

सूर की भाँकी

लेखक
सत्येन्द्र

रिमलाक्ष अग्रवाल एण्ड कम्पनी लि०
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
आगरा

प्रकाशक

शिवसाहब अग्रवाल एण्ड कंपनी लि० ।
हस्पताल रोड, आगरा

प्रथम संस्करण १९५६
मूल्य ६)

मुख्य

एम० ई० सेमुएल (सुप्रिटेण्डेंट)

औरफन प्रेस, दी कंपनी रोड

आगरा

सूर के प्रेमियों को सावर भट

७

सूर की भाँकी

सूत्रोक्ता

सूरदास हिन्दी के महान कवि हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि सूरदास पर अब अच्छा अध्ययन होने लगा है। फिर भी अभी इस कवि के समग्र अध्ययन के लिए और भी अधिक प्रयत्न की अपेक्षा है। 'सूर की भाँकी' में एक ऐसा ही प्रयत्न है।

लेखक ने समय समय पर सूर की भाँकी पाने के विविध प्रयत्न किये थे—वे समय-समय पर प्रकाशित भी होते रहे। वे 'साहित्य की भाँकी' और 'कला-कल्पना तथा साहित्य' जैसे सप्ताहों में भी सम्मिश्रित किये गये। पर विस्तरे होने के कारण सूर के पाठकों और सूर को समझने की चेष्टा करने वालों को असुविधा ही रही। लेखक ने स्वयं भी इस असुविधा का अनुभव किया। उसे दूर करने के लिए ही सूर की भाँकी पाने में सहायक सभी निबंध, रेडियो भाषण आदि इस पुस्तक में एक क्रम से दे दिये गये हैं।

इस पुस्तक को तीन खंडों में करके पढ़ा जा सकता है—

पहला खंड—सूर-काव्य की पुष्कभूमि निबंध १ से १० तक

दूसरा खंड—सूर का जीवन निबंध ११ से १२ तक

तीसरा खंड—सूर की कृतियाँ और कला निबंध १३ से २५ तक

दूसरे खंड में एक निबंध का शीर्षक है, सूर के 'जीवन पर प्राप्त सामग्री का सार'। पहले यह विचार था कि इसमें समस्त सामग्री का ही सार दे दिया जाय। पर लेखक 'वार्ता-साहित्य' के अतिरिक्त अन्य सामग्री को महत्वपूर्ण नहीं समझता अतः अन्ततः केवल वार्ताओं का ही सार दिया गया।

हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव

पृथ्वीराज रासो के ऐतिहासिक आधार में काल्पनिक कहानियों का कहीं-कहीं रंग भरा गया है।¹ ऐसा उस वीर-वर्णन और युद्ध कथा को कुछ अधिक साहित्यिक सुन्दर और रोचक बनाने के लिए किया गया है। ये कहानियाँ उसे पद्मावती के विवाह की कवि की अपनी कल्पना प्रतीत नहीं होतीं। ऐसी कथाएँ कहानी के रूप में साधारण जन-समुदाय में प्रचलित थीं।²

भारत कहानियों का धर्म-स्थान है।³ यहीं से कहानियों की कला ने सबसे पहले मनुष्य के मनोरंजन का एक नया द्वार खोला। चौपालों पर बैठे हुए अगिहानों पर तापते हुए, जीवन-यात्रा से श्रान्त बूढ़ अपने लोच भरे लहज में जीवन क्षेत्र के नये पटवाजों को राजा-रानी और उनके विवाह की रोचक कहानियाँ सुनाया करते थे। चन्द बरदायी की पद्मावती की कहानी का बाँचा कहीं यहीं से रिया गया होगा।⁴

1 दाढ़ में माना जा कि पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस मत का विरोध हुआ, जो तक कि कुछ लोग इसे विकृत काल्पनिक और ११वीं १२वीं सदी का मानने लगे। इधर फिर यह माना जाने लगा है कि पृथ्वीराज रासो एक कथा-काव्य है और इसमें इतिहास प्रभान नहीं। उस युग में कथा-काव्य के जो लक्षण स्वीकृत थे उन्हीं के अनुसार पृथ्वीराज रासो सम्भवतः पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया। काव्य के इस निष्कर्ष से हमारा परमा अनुमान पुष्ट हो जाता है।

2 'पद्मावती' की कहानी प्रसिद्ध लोक-कहानी है। कथा सरिखागर में भी एक पद्मावती की कहानी है। [दे. कथा सरिखागर १३ वीं पृष्ठ]

3 India's Past—"This (Folklore) is in fact the most original department of Indian literature.

4 हमारा अनुमान है कि कथा-सरिखागर में लोक कहानियों की एक सूची में

हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव

पृथ्वीराज रासो के ऐतिहासिक आधार में काव्यनिरूप कहानियों का कहीं-कहीं रंग भर गया है।¹ ऐसा उस वीर-वर्णन और युद्ध कथा को कुछ अधिक साहित्यिक सुन्दर और रोचक बनाने के लिए किया गया है। ये कहानियाँ जैसे पद्मावती के विवाह की कवि की अपनी कल्पना प्रतीत नहीं होती। ऐसी कथाएँ कहानी के रूप में साधारण जन-समुदाय में प्रचलित थीं।²

भारत कहानियों का जन्म-स्थान है।³ यहीं से कहानियों की कला ने सबसे पहले मनुष्य के मनोरंजन का एक नया द्वार खोला। चौपालों पर बैठे हुए, अगिहानों पर तापते हुए जीवन-यात्रा से थक चुके अपने लोभ भरे लहजे में जीवन क्षेत्र के नये पटेबाजों को राजा-रानी और उनके विवाह की रोचक कहानियाँ सुनाया करते थे। चन्द बरदामी की पद्मावती की कहानी का डींचा कहीं यहीं से किया गया होगा।⁴

¹ तब ने माना जा कि पृथ्वीराज रासो ऐतिहासिक ग्रंथ है। इस मत का विशेष धुंसा वह तब कि कुछ लोग इसे विशुद्ध काव्यनिरूप और १६वीं १७वीं शती का मूल्य रखे। इधर फिर वह माना जाने लगा है कि पृथ्वीराज रासो एक कथा-ग्रन्थ है और इसमें इतिहास प्रधान नहीं। उस रूप में कथा-ग्रन्थ के जो लक्षण स्वीकृत थे कहीं के अनुसार पृथ्वीराज रासो सम्भवतः पृथ्वीराज के समय में ही लिखा गया। आज के इस निष्कर्ष से हमारा पक्ष अनुमान पुष्ट हो जाता है।

² 'पद्मावती' की कहानी प्रसिद्ध लोक-कथा है। कथा सारितागर में भी एक पद्मावती की कहानी है। [दे. कथा सारितागर १७ वीं खंड]

³ India : Past— "This (Folklore) is in fact the most original department of Indian literature."

⁴ हमारा अनुमान है कि कथा-सारितागर में लोक कथाओं की एक सूची में

रासो के इस भाग में कुछ ध्यान देने योग्य बातें हैं ।

पद्मावती पृथ्वीराज की चाहती है । पृथ्वीराज के पास तोते के द्वारा सूचना भेजती है । पृथ्वीराज सेना सजाकर पद्मावती से विवाह करने जाता है । विवाह हो जाता है ।

इसमें दो बातें मूलतः मिलती हैं । एक स्त्री का पुरुष के प्रति प्रेम, दूसरे एक पक्षी का वृत्त की भाँति सम्पादनात्मक बनना ।

प्रेम-मार्ग के बाध्य में भी हमें यह झाँचा चीक पड़ता है । जायसी के पद्मावत में पद्मावती रत्नसेन को चाहने लगती है । हीरामन तोता उन दोनों के मिलन का साधन है । रत्नसेन बरबार सिंहल छोड़कर अनेक कष्ट भोगता हुआ पहुँचता है । अन्ततः पद्मावती से विवाह कर पर लौट आता है ।

जिस प्रेरणा ने पृथ्वीराज रासो में, चन्दबरदायी को पद्मावती की कहानी उस युद्ध के युग में लिखने को उत्प्रेरित किया वह जायसी के समय १५६७ तक पूर्ण परिपक्व हो गयी । यह नहीं कहा जा सकता कि रासो में चन्द बरदायी की प्रतिभा से उत्पन्न कृति के ही अनुकरण से अथवा उसी से सीख पाकर प्रेम मार्ग प्रस्तुत हुआ क्योंकि प्रेम-मार्गी कहानियों के स्वभाव में भीर भी कितनी ही विशेषताएँ मिलती हैं जो रासो की कहानी में नहीं, फिर भी इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि सीखिता

पिरीची गयी है । कथा-सरित्सागर में रत्ना के कारण का गुणगान विषयक जो व्याख्यान दिया गया है, उससे भी जो सिद्ध होता है—इसमें शिष्यी मूल ब्रह्म है । बरद्विष्णु, विष्णु, विष्णु और श्री कृष्ण गुणगान करने इस मौखिक परम्परा को सिद्ध करता है । अस्तु गुणगान को-कथाओं का आध्यात्मिक संवत्सरकर्ता वा । ब्रह्मका का सम्बन्ध ब्रह्म-कथा आदि में सीत की भाँति कहा महत्व है ।

गुणगान का महत्व सभी प्रमुख कथाकारों तथा शायरों ने स्वीकार किया है । मायदा ने कथा के लक्षण ब्रह्मका के आधार पर दिये हैं । रामे ही छवि में रत्न पर बरद्विष्णु ने ब्रह्मावत में कथा पर विचार प्रस्तुत दिये हैं । सुबन्धु ने ब्रह्म का शब्दार्थ म ब्रह्मकी कथा का शब्दार्थ के साथ गुणगान को बिठाया है । बाण ने कादंबरी तथा हर्षचरित में इस महापुरुष का शब्दार्थ समझा दिया है । जयपाल ने तो यह स्पष्ट ही लिखा है कि कथा-सरित्सागर से ही संस्कृत की अन्य कथाएँ सी गयी हैं । शब्दार्थ में रचयिता ने रामायण तथा महाभारत के साथ ब्रह्मका के रचयिता को भी ब्रह्म की शक्ति धारित की है और कहा है कि ऐसा ब्रह्म है जो यह

की यह क्षीण धारा बहुत पहले से चली आ रही थी ।' रासो में यह बनायास ही कुछ उच्छल पड़ी । परन्तु राजनीतिक वातावरण की कुछ दार्शनिक व्यवस्था होते ही तीन या चार दशान्दियों बाद वह धारा बड़े बेग से प्रवाहित होकर साहित्य-क्षेत्र को सींचने लगी ।

यहाँ ध्येया कि गुणाध्या के रूप में स्वयं व्यासजी ही ब्रह्मी पर पुनरवतीर्ण हुए हैं । धर्मग्रन्थ में 'हरिकुल नामक ग्रन्थे नाट्य शस्त्र में स्वयं बताया है कि नाट्यकारों के लिए कथा-स्तु के दो प्रमुख स्रोत हैं, जिनमें प्रथम स्थान रामायण का है, दूसरा बृहत्कथा का । धर्मिक ने भी हरिकुल पर चरसोक लिखते हुए इसी पुष्टि की है । बौद्ध और जैन कथाओं पर भी बृहत्कथा का प्रभाव स्पष्ट है । [लिखित Essay on Gunadhya and the Brahatkatha by Felix Lacote]

¹ साहित्य की इस कोटि-धारा को बृहत्कथा से ही चार्तम हुआ मान सकते हैं क्योंकि इससे पूर्व के किसी ऐसे कथा-संग्रह का पता नहीं चलता । यही तथा शरीर राजाओं तक यह ग्रंथ प्रसिद्ध हो चुका था । अनेक नाट्यकार गणराज्य राजपूत और कथा कथन रचिता इसके श्रुती थे । ८५२ ई० के कम्बोजवा के एक संस्कृत लिखावट में भी गुणाध्या और बृहत्कथा का उल्लेख है । बाद की राजाधियों में कथा साहित्य रचने की एक विद्वत् प्रथा ही प्रचलित हो गयी । कथाओं की यह परंपरा कुछ इस प्रकार माली का सफ़ा है—

बृहत्कथा-गुणाध्या
मन्त्रिस्तु ब्रह्मा
मैत्रिणाथ चरित
सदेवरासक
स्वामिचरित्र
शंकरमंसिधि
चौरंगसंधि
कुलमास्याल
मन्त्रिरेवसंधि
मन्त्रिचरित्र
पद्मसिंधुचरित्र
सिद्धिचरित्र महापुरुष
हरिचरित्र
चरित्रचरित्र

प्रेम-मार्ग के काव्यों में केवल राजा रानी के प्रेम का ही वर्णन नहीं—इसकी कुछ और भी विशेषताएँ हैं ।¹

जिस युग में प्रेम गाथाओं का आरम्भ हुआ वह धार्मिक पुनरुत्थान² का युग था । भारतवर्ष में पश्चिम की एक नयी और जोशीली संस्कृति अपने पैर धमा चुकी थी । मुसलमानी सभ्यता

राजकुमारचरित

करकण्ठचरित

कुल्लुफाम्ना कथा (३वीं शती)

वासवधत्ता (सुषुप्त)

कादम्बरी (पाण)

सहस्रना स्त्रीक सप्त

सहस्रना मंथरी

कवासरिसुन्दर

सौदागरी (कन्न से ऊपर पूर्व के योग्यरस कवि द्वारा लिखित)

सौदागरी

सौदागरी

सौदागरी

¹ कथा सुसम्पन्न प्रेम-कथाएँ ।

सुनि सौ हाने मने भिबानी । [वाल्मीकि प्रेम ३०६ (का-भा ३)]

प्रेम-संघ को पहुँचै पारा ।

बनुरि न मिली जाइ एहि वारा । [वही, पृ० ७]

² भारत में कई धर्म-पुनरुत्थान की सन्धिर्था मिलती हैं । इस धार्मिक पुनरुत्थान की एक सूचना तो हमें गीता में कृष्ण की प्रतिज्ञा के द्वारा मिलती है—“कदा कदादि धर्मस्य स्थापिर्भवति भारतम् । अहं कृष्णार्जुनसम् । धर्मस्य तदात्मानम् सज्जाम्यहम्” इस धर्म के प्रसार में जो बितने व्यक्तित्व उत्पन्न हो पायेंगे पुनरुत्थान के व्यक्तित्व, फिर भी स्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टि से हम निम्न अभ्युत्थानों को मान सकते हैं :—

प्रथम—बौद्ध

समय २-६ हजार ई० पू

दूसरा—जैन

सत्रि शती ई० पू

तीसरा—बौद्ध

चतुर्थी शती ई० पू

चौथा—बौद्ध

आठवीं ई०

पाँचवा—बौद्ध

अबीसवीं शती ई०

को आये कई सताधियाँ हो गयी थीं—वे अब भारत-सतान थे वे अब अन्ध के निवासी नहीं रहे थे । परन्तु उनके और हिन्दुओं के मत में सघप बराबर जारी था । वह दोनों में भीषण दान्ता पदा कर रहा था । एक के हृदय में दूसरे के लिए किंचित प्रेम नहीं था । ये दोनों कब आपस में प्रेम करना सीखेंगे ? यह प्रश्न अनन्त सहृदयों के मन में उस समय उठता था ।¹

दोनों में दान्ता का मूल कारण था धार्मिक-विरोध । मुसलमानों के आक्रमणों से पूर्व भी अन्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किये थे वे यहाँ आयीं और भारत की हो गयीं । उनका कोई अलग मत न था । वे यहाँ हिलगिल गयीं । परन्तु मुसलमानों ने बवल राज्य-सोम धन-सोम अथवा अन्य किसी पदार्थ सम्बन्धी लोभ मात्र से ही आक्रमण नहीं किये थे । धार्मिक परिणति करना और अपन सत्य धर्म का प्रचार करना उनका मुख्य ध्येय था । उनका साग उत्साह धर्म-मय था । इधर हिन्दुओं में उत्साह गिगिल भले ही रहा हो परन्तु धर्म उनकी सम्पत्ति और संस्कृति के साथ रक्त में निद गया था । उनके समाज के दारौरे के ढाँचे की हड्डियाँ धम की बनी हुई थीं—इससे दाना में घोर विरोध था । इसे सजान मनुष्य भी दस्त रहे थे सहृदय मनुष्य भी देख रहे थे

सजान मनुष्यों के तर्क को इस समय कौ स्मिति असहनीय थी । सभी एक ईश्वर के पुत्र हैं² फिर एक दूसरे का गला क्यों काटा जाय ? मन्दिर-मसजिद के नाम पर झगड़ा होता है । ईश्वर की सर्व व्यापकता में बढ़ा लगाने वाला ये गृह न होते तो अच्छा था ।³ दोनों दलों का बेमनस्य मिट जाता । हिन्दु भी एक

¹ किन्ति एक सत्यी दुः खारा । एहि ते बना परकारा ।

मलु के रक्त पिता के हिन्दू । अपने दुःखी गुरुक ओ हिन्दू । [जायसी]

तथा

हिन्दू कोई मोहि राम विपार, गुरुक कोई रहिमामा ।

आपुस में बोट छरि-छरि मृत, मर्म न काहु जाना ॥

[‘कबीर-बीजक’ पृ० १६ कबीर ग्रन्थ प्रकाशन]

² ओ हिन्दू ओ गुरुक कहाव एक भिरी पर रहिये ॥

बेगर बेगर नाम बराम, एक मरिया के मरि ॥

[‘कबीर बीजक’, पृ० ४०]

³ ओ कुरान मखबीर बसु है और मुनुक बेदि केरा । [‘कबीर बीजक’ पृ० ११]

ईश्वर मामसे ही ह मुसलमान भी मानसे हैं। फिर मगड़ा क्यों हो ? ऐसे ही और भी अनेकों प्रश्न उठते थे ।

एक और सहृदय वर था वह भी बुझी होता था । अरे ! क्या इनके हृदय नहीं ! प्रेम का भूकोरा सारे मेवों को ग्रहा वेगा यदि ये जान जायें कि प्रेम क्या है ? वह व्यापक प्रेम जो परम प्रेम का साधक ह क्यों न हमको बतलाया जाय । अतः ज्ञानियों ने अपना काम किया । उनका मार्ग ज्ञान-मार्ग कहलाया और सहृदयों का प्रेम-मार्ग ।

इस राजनीतिक स्थिति का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा । साहित्य में कबीरदासजी से काव्य की ज्ञान-मार्गी छाया आरम्भ हुई । इस ज्ञान-मार्ग पर शक्ति का प्रभाव था ।

कबीरदासजी से जिस क्षेत्र में से अपने लिए सामग्री जुटायी थी उस क्षेत्र में शक्ति की सम्भावना हो चुकी थी । भारत में पूर्वपुनर्जागृति की उत्साह लहरें हिस्कारे ल उठी थीं । उनका ज्ञान-मार्ग उपनिषद् की कंकरिया की नींव पर खड़ा हुआ था ।

वैदिक काल में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में देवी शक्ति की प्रतिष्ठा की गयी । उन विविध प्रकृति की देवी शक्तियों में उन्हें एक ब्रह्म की सत्ता दिखायी पड़ी । उस ब्रह्मसत्ता का विवेचन उपनिषदों में हुआ । उस समय 'ब्रह्म' नामक व्यापक शक्ति का नया संस्कार हुआ था । केन उपनिषद् में हमें स्पष्ट ही इस नवीनता की उद्भावना दिखलाई पड़ती है । उसमें विचित्रकथानक द्वारा ब्रह्म की अमृत सत्ता का समझने का यत्न किया गया है । उस समय अपूर्व तेजवान ब्रह्म को ध्वजकर इन्द्र, अग्नि वामु आदि वैदिक प्रकृति-देव आश्चर्य में पड़ गये थे । वे नहीं जानते थे कि यह नवोद्भासित शक्ति क्या है ? साहसपूर्वक उनमें से एक-एक बारी बारी से परिचय प्राप्त करने गया । इस क्रिया में यह स्पष्ट सिखा है कि प्रसिद्ध वैदिक देव उस अपूर्व तेजमय ब्रह्म से अनभिज्ञ थे । यह उनके लिए एक नई वस्तु थी । वह उन्हें आश्चर्य में डालने वाली

१. कौंसि प्रेम को उपना बाएँ बाँधु सत मन दीसत न मारी ।

बेहि किउ मँहि होइ सत पकार, परे पहार न बाँके बाक ॥ [बाकरी]
रत्ना

सुँव समुँह जैसि होइ मेरा । या इराद जस मिलै न हिर ।

रखी पल मिला जस हारै । भावहि कोइ राख कोइ लैरै ॥ [बाकरी]

भी भूत, उसका परिचय पाने की उन्हें उत्कण्ठा हुई। हम ब्रह्म को उपनिषदों ने सौजा।

उपनिषदों की शिक्षा के विधान में ब्रह्म को जानने की विद्या अत्यन्त गोपनीय और रहस्यपूर्ण समझी गयी है। जगत के विभिन्न व्यापारों में व्याप्त वह 'एक' रूपरेखा और नाम का विषय नहीं हो सकता। इसलिए वह सूक्ष्म-बुद्धि से नहीं समझा जा सकता। सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है—वह सूक्ष्म-बुद्धि जो सुख हो इस भाषावी सत्ता के कल्प से दूषित न हो। यह सूक्ष्म-बुद्धि भी उसका पूरा ज्ञान नहीं पा सकती क्योंकि वह केवल ज्ञान का विषय नहीं। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। उसका अनुभव आनन्द विभोर करने वाला है। अतः सूक्ष्म-बुद्धि भी उग ममय विमोहित हो जाती है वह अपने को भूल जाती है। पौछ कुछ अनुमान से कुछ उस आनन्द के स्काराबोध से वह सूक्ष्म-बुद्धि अपनी दशा का ज्ञान प्राप्त कर सकती है—उस 'एक' का ज्ञान फिर भी नहीं पा सकती। इसी कारण उपनिषदों में कहा गया है कि उसे 'न जानने वाला' ही जानता है। वह केवल अनुभव की वस्तु थी वह हृदय की वस्तु थी। वह धीमे-धीमे प्रकट हो रही थी। अतः समस्त 'एक' में विसर्जित होने वाले जगत् में भक्ति का समावेश अवश्य हो जाता है। 'एक' की ऐसी प्रधानता जो असंख्य मानवीय सत्ताओं को मुक्त बनाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करे, बिना अपने निजी विषय आकर्षण के नहीं हो सकती। यह आकर्षण हृदय को अमिथ करता है। उसके सारे रस को निर्विकल्प अपनी ओर खींच लेता है—और भक्ति को उत्तेजना देता है।

इसै भूत में 'एक' की प्रधानता है। उसमें भक्ति का प्राचुर्य है। बौद्ध धर्म में एक बृद्ध भगवान् की प्रतिष्ठा है। अतः वही भक्ति की प्रधानता है। उपनिषदों में एक ब्रह्म की सत्ता का निरूपण किया गया, उसको प्राप्त करने के लिए गुरु से उपनिषद् (रहस्य) का ज्ञान पाना आवश्यक था। अतः इसी काल से भक्ति का मुखपात हुआ।¹ उपनिषदें ईसा से कई शताब्दी पहले निर्मित

¹ मोहनमोहनी और हज्जा भी शीघ्र के अत्यन्त से रूप विरित होना है कि वेनी से पूर्व ही भारत में एकरवराध प्रतिष्ठित था। मोहनमोहनी में शिव को ही परम सत्ता माना जाता था। इसी के साथ यह भी विरित जाता है कि मल्लि का आरम्भ यही हो चुका था। मोहनमोहनी से प्राप्त मूर्तों में से एक पर शिव के

ही चुकी थी। उही में संकेत रूप में उपस्थित भक्ति महामारुत काल में विकसित हुई—इस अन्तिम अवस्था ने अपनी भक्ति का रूप और प्रकृत कर लिया—उसे साकार कर दिया। यह साकारता उन्हें मोहनजीवको की संस्कृति से ही मिली थी। इसे बहूत करने उसे विशेष वर्ग की भक्ति को साकारता के साथ पूषण भारतीय बना दिया। वह अब आर्य-अनार्य सभी के लिए सामान्य रूप से मान्य हो गयी।

मुसलमानों के नये संस्कार की धाप ने पुराने संस्कारों के लिए तड़प पैदा कर दी। उनके एकेस्वरवाद से मुठभेड़ करने के लिए उपनिषद् के अद्वैत^१ की बड़ी उत्सुकता से पुकार मचायी गयी। व्यवहार का सकोच हटाया गया। धर्म मंद की व्यवस्था का मुसोष्णवेदन ता नहीं किया गया परन्तु मूढ़ा के धार्मिक अधिकारों में उदारता से काम लिया गया। वे भी अब भगवान् से भक्ति मांग सकते थे। नये धर्म के संघर्ष से रक्षा करने के लिए इस काल में उपनिषदों और महाकाव्यों के मार्ग पर भक्ति-मत का प्रचार किया गया। यह युग इसलिए भक्ति उन्मुख युग था। 'प्रेम मार्ग' के ग्रन्थ इस धर्म और भक्ति के प्रभाव से खून्य नहीं रह सकते थे। इस मार्ग के साहित्य में 'भोक पस' से लेकर प्रेम-कहानियों को लेकर धर्म और भक्ति का पूट मिसता है।

वीरगाथाओं में वीरत्व के श्रोत्र को प्रकट करने के लिए जिन जीवत और साहस सम्बन्धी भीषणताओं को रासो जैसे काव्यों में कवियों ने उपस्थित किया—उन्हीं के अवशेषों की भांति मानो प्रेम कहानियों में प्रेमी की बठिमाइया की सृष्टि की गयी। मूल की

होती और ही महों का अंकन हुआ है। केन उपनिषद् की भिन्न कथा का अन्त उल्लेख हुआ है वह यह भी लिख करती है कि आर्यों को यह बड़ा ज्ञान समकाल मोहन-जीवको की सम्मता से मिला क्योंकि भिन्न शक्ति ने धार्मिकमूर्त होकर उस रहस्यमय अर्थ का पता देनाओं को दिया उस शक्ति का नाम क्या हैमकती स्पष्ट दिया गया है। यह क्या हैमकती पारसी के अतिरिक्त और और ही सरती है। निरन्तर इस अर्थम से केन का अन्त मोहनजीवको का शिल्प ही निर्मित होता है। वहीं से आर्यों ने मक्ति का भाव ग्रहण किया।

^१ यही कारण है कि इस पुनरुत्थान में सभी सम्प्रदायों ने अग्रज को प्रधान आधार माना और सभी में किसी न किसी रूप में अद्वैत की प्रतिष्ठा की गयी।

रणवीरता ने कहानियों में प्रेम की वीरता का धाना पहन लिया ।
वीरता तो रही केवल उसका सत्र और रूप बदल गया ।

प्रेम-गाथाओं के लिखन वाले अधिकांश मुसलमान सूफी
फकीर थे । इनका मत उधार था । अपना ध्यान की सीधी-सच्ची
तरह रखना वे जानते थे । किसी को बुरा भला कहना इन्हें पसन्द
न था । हिन्दुओं के वेदान्त की तरह ये 'अल्लाह' को अद्वैत मानते
थे । उसी के व्यापक प्रेम से सारे ससार का रंग हुआ दमते थे
और इन्हें विश्वास था कि इस प्रेम में जा रंग गया जिसने इस
प्रेम को पा लिया वह बुझी नहीं रह सकता । फिर उसे किसी से
शिकायत नहीं रह जायगी । वह खुद राजा हो जायगा, दूसरों की
शिकायतें सुनेगा—वह खुद शिकायतें क्या करेगा ।^१ इसी प्रेम के
मध्य सन्देश को भाग्य के उम विषम वातावरण में लाभप्रद
समझकर लोगों की भाषा में और लोगों के ढङ्ग में उनकी अपने
घर की चीज बनाकर रखा गया । मधुमूष सूफियों की प्रेम-गाथाओं
का पढ़कर और उनके रहस्य का मनन करके हृदय कल्पित भावों
स ऊपर उठ जाता है उस ससार में एक उज्जता और एक नवीन
स्फूर्ति दिखायी पड़ती है । वह भद भाव भूलन लगता है । सूफियों
के ग्रन्थों ने प्रेम की आग लगायी । उनका यही काम था । उन्होंने
'लोक' को प्रेम के योग्य बना दिया वह प्रेम किससे किसके लिए ?
इन बातों का उत्तर देना उन्होंने उचित न समझा—यदि 'प्रेम की
पीर' पैदा हो जाय तो बस ! जायसी ने इसी भाव से लिखा—

मुहमद कवि यह जारि सुनावा । सुना सो पार प्रेम कर पावा ।

प्रेम-गाथाओं में सूफियों ने हूणों में प्रेम की पीर पैठा दी ।
प्रेम से हृदय में एक अमृत वदना पैदा कर दी । जन-समुदाय प्रेम
में विकल हो गया—पर प्रेम किसको करे ? प्रेम प्रेम के लिए, प्रेम
निगुण के लिए । साधारण काटि व मस्तिष्क के लिए ये सूक्ष्म
तात्त्विक विश्वास अविरास से भी अधिक भारी थे । प्रेम में लगन
की मात्रा है प्रेम हृदय का वस्तु है । हृदय की लगन निरूप
निरस्त और निगुण में नहीं हो सकती । बिना गुण के वह धूँ-सा

^१ सुनु यदि प्रेम मुरा के पीर । मग्न विषम दर रही न पीर ।

बेहि मर ऐहि कहा कसारा । की या भूमि रह कि मतभारा ॥

भरक दरब सब देह कहाइ । की सज जाहु न काइ भिदाइ ।

एहिहु दिख्य रही रस-भीजा । साम न देख न देख होजा ॥

सासी-सा और भूसा-सा रहता है इससे उसकी बेचैनी ही बढ़ सकती है, शांति का संदेश नहीं मिल सकता। उसमें अवश्य ही आसक्ति की मात्रा होती है, और उचित दिशा में प्रभावित आसक्ति को बुरा नहीं कहा जा सकता। यह आसक्ति निराकार में आसक्ति के 'निरगुन' में नहीं हो सकती। लक्ष्य का विस्तार ऐसा संकुचित भी नहीं चाहिए कि निर्लक्ष्य हो जाय। बस किसी लक्ष्य की आवश्यकता थी।

प्रेम-मार्गियों ने मार्ग बना दिया अथवा मार्ग साफ कर दिया। वह मार्ग सिद्धांत से 'निरगुन' प्रेम का था अथवा किसी अनंत यात्री के लिए अनंत-यात्रा का मार्ग था पर फलतः साहित्य में उस मार्ग का संस्करण कर दिया गया। उस मार्ग के सामने सान्त् का रूप खड़ा कर दिया। यह सगुणोपासक भक्त कवियों ने किया।

पवित्र प्रेम की दिव्य विकसलता में जब धड़ा और गुण का समावेश हो जाता है तो बही भक्ति हो जाती है। भक्ति में विश्वास है प्रेम की पराकाष्ठा है सगुण धारणा है धड़ा है और अपनत्व का लोप है। प्रेम में आसक्ति है विश्वास है अपनत्व का लोप है—ये गुण प्रेम-मार्ग में पैदा कर दिये। यही प्रेम-मार्ग आगे चलकर सगुण 'भक्ति' के रूप में परिणत हो गया। भक्ति-मार्ग ने प्रेम-मार्ग की धुन्यता को भर दिया। उसने लक्ष्य के लिए वह रूप रखा था जो एक साथ संकुचित भी था और विस्तृत तथा व्यापक भी, एक साथ अनन्त भी था और सांत भी एक साथ व्यष्टि भी था और समष्टि भी एक साथ व्यक्त भी था और अव्यक्त भी एक साथ तार भी था और स्वर भी एक साथ कण्ठ भी था और लय भी एक साथ अगति भी था और गति भी, एक साथ समुद्र भी था और निगुण भी।

यह समय बड़ी ही सुन्दर कलात्मक दार्शनिकता का था। सगुण भक्ति-मार्ग का समन्वय इसमें कवियों ने अपनी खमर कला से अनन्त बढ़ा का—उसके व्यापार विस्तार को संचित साकार खड़ा कर दिया। कम से कम अब बहुत थोड़ा नहीं ये सकता। उसका सुन्दर स्वरूप हम अनुभव कर सकते हैं।

भक्ति-मार्ग के अखतीय होने के मानसिक विकास का क्रम ऊपर कथलाया गया है। हिन्दी-साहित्य में प्रेम और ज्ञान-मार्ग के पश्चात् सगुण भक्ति का आना अपने रूप में भी स्वाभाविक था। परन्तु इसमें वह स्वाभाविक मार्ग से नहीं आयो। उसके आने का इतिहास भिन्न है। वह उमर से नहीं दक्षिण से आरम्भ होता है।

- २ -

भक्ति का स्रोत

भक्ति द्रविड़ ऊपजी शाये रामानन्द — इस युक्ति के अनुसार भक्ति का आविर्भाव द्रविड़ में हुआ। उक्ति-कर्ता समस्त नहीं जानता था कि वह इन शब्दों के द्वारा कितने गहरे सत्य को प्रकट कर रहा है। उसका द्रविड़ से अभिप्राय समस्त दक्षिण देश से ही था किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है नयी प्रागु-एतिहासिक घोषों से यह सिद्ध-सा होता है कि भक्ति का मूल द्रविड़ों में ही और दक्षिण के द्रविड़ों में नहीं उनके महान् पूर्वज मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ों में। अभी तक संसार को जितन भी साक्ष्य और प्रमाण प्राप्त हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ अथवा इत्य एकेश्वरवादी थे। उनके इस ईश्वर का नाम शिव था। उनके लक्षों में स्पष्ट उल्लेख है कि शिव परमात्मा है वही विश्व का धाम्ना है। वह अद्वैत है स्वयं भू है वह महत् है और देवों में देवोत्तम है। वह सर्वदृष्टा और उदार-चेता है वह विश्व का कर्त्ता-भर्ता-हर्ता है।^१ एकेश्वरवाद भक्ति का प्रधान भाग्य है विद्यमान तब जब कि उसे आकार मिल जाये। इस एकेश्वर शिव को इस युग में साकारता भी मिल गयी थी, जिसके कितने ही प्रमाण यहाँ मिले हैं। एक तो ऐसा मनोसा ठप्पा मिला है जिसमें शिव के दोनों ओर दो व्यक्ति बैठे हुए व्यक्ति हैं। यह ठप्पा सिद्ध करता है कि इस युग के द्रविड़ भक्त थे—भक्ति का ऐसा मूल प्रमाण अन्यत्र प्राप्त नहीं। फलतः आयों से पूर्व द्रविड़ों में भक्ति जन्म ग्रहण कर चुकी थी और प्रचलित हो चुकी थी।

आयों ने भक्ति का भाव दक्षिण से प्राप्त किया था। यों तो ऋग्वेद के वरुण में भी वे समस्त तत्त्व दिनायी पड़ते हैं जो भक्ति

^१ हेरस : 'रित्याज्य भाव श्री मोहनजोदड़ो पीरिस ऐरमेन्ट'।

के बीज बहे जा सकते हैं। वरुण में भक्त के इष्ट होने योग्य समस्त गुण दिखायी पड़ते हैं। किन्तु वरुण की इस प्रसिद्धा के युग में अन्तर्बैदिक देवताओं का भी समाज में सम्मान था, स्वयं वरुण का उल्लेख इंद्र और मित्र के साथ धनिष्ठ रूप में वेदों में किया गया है ऐसी स्थिति में भक्ति का बीज हो सकता है पर भक्ति का स्वरूप पुष्ट नहीं हो सकता। वेदों में विविध देवताओं के प्रति वैदिक ऋषियों की जिस मनोम्यसि का पता चलता है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है वह भक्ति का ओत नहीं बन सकती। इस युक्ति से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वरुण विषयक जिन भक्ति के सत्त्वों का आभास हम ऋग्वेद में मिलता है, वह किसी बाहरी प्रभाव का ही परिणाम होगा। वरुण विषयक ऋषियों का निर्माण संभवतः उस समय हुआ होगा जब आर्य लोग मोहनजोदड़ियों के सम्पर्क में आ चुके होंगे। इसके उपरान्त वैदिक साहित्य में हमें दो विशेष उल्लेखनीय घटनाएँ मिलती हैं—एक तो केनोपनिषद् के द्वारा प्रस्तुत की गयी है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। 'ब्रह्म' को देख कर वैदिक देवताओं का आश्चर्य और उसके समक्ष उनकी असमर्थता तथा उमा हेमवती द्वारा उसका परिचय—य तत्त्व यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि वैदिक देवताओं के परिकर में उनके लिए अपरिचित और दूसरे शब्दों में बाहरी तत्त्व का प्रवेश हुआ—उसका व्याख्यान 'उमा हेमवती' अर्थात् शिव परिकर की स्त्री ने किया। दूसरी महान घटना है 'श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना'—श्वेताश्वतर में स्पष्टतः भक्ति का प्रतिपादन है, और असदिग्ध रूप में इस भक्ति का इष्ट 'वद्विष्व' को बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि श्वेताश्वतर को महाभारत में 'महापातुपत' कहा गया है। इसी उपनिषद् में सबसे पहले 'मगधत' शब्द का प्रयोग शिव के लिए हुआ है। इन दोनों वैदिक घटनाओं को साथ-साथ दसने से सिद्ध होता है कि वैदिकेतर ओष से आर्यों को पहले तो समस्त देवताओं के मूल स्रोत 'ब्रह्म' का ज्ञान कराया गया, और तदनंतर उसका अपनी परम्परा के अनुकूल नामकरण किया गया। फलतः इस उपनिषद् के द्वारा 'इन्द्र' और 'ब्रह्म' परम्पराओं का सम्बन्ध हुआ और आर्यों ने वैदिक काल में ही 'भक्ति' को महत्त्व प्रदान किया।

और, तब भारत में कुछ बड़े परिवर्तन हुए और भक्ति का केन्द्र 'शिव' के स्थान पर 'विष्णु' को बनना पड़ा। शिव का स्थान

विष्णु को सरलता से नहीं मिल गया इसके लिए अत्यन्त दीर्घ कासीन और भयानक संघर्ष हुआ, जिसका इतिहास भारत के पुराण और पुराण-युग के साहित्य में विस्तार पड़ा है। असुरों का सम्बन्ध साधारणतः शिव-भूजा से दिखायी पड़ता है। असुरों और गुरों भयवा राक्षसों और देवताओं के संघर्ष में यही शिव और विष्णु की ही प्रतिद्वन्द्विता दिखायी पड़ती है। गुरों-असुरों और देवों राक्षसों के संघर्षों की समस्त कथाओं को एकत्र करके देखा जाय तो यह सिद्ध होगा कि पहले शिव का दौर-दौरा था।^१ फिर शिव और देवों को परास्त^२ करके विष्णु की प्रधानता हुई, दोनों में प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध^३ बहुत समय तक चला तब दोनों के समन्वय की चेष्टा हुई।^४ और अन्त में शिव पिछड़ गये तथा विष्णु का प्राधान्य^५ स्थापित हो गया। इस समस्त प्रकृति में अनायों और आयों का परस्पर घुलमिल जाना ही निहित नहीं बल्कि उनके विश्वासों का भी रूपान्तरित होना निहित है। शिव की प्राधान्य-स्रोतक कथाएँ आयों से पूर्व की मानी जानी चाहिये, अथवा आयों से मित्र समुदाय में प्रचलित मानी जानी चाहिये। शिव का वद्र के साथ संयोग और त्रिदेव 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर' की कल्पना सामंजस्य और समन्वय का परिणाम है।

^१ रामायण का समस्त देवताओं पर आशंक इसी शैव विचार का स्रोतक है। स्वेतास्वर अथि का 'महा पाशुरास' होगा और उपनिषद् में यज्ञ-शिव को ब्रह्मा का स्वतन्त्र देना भी इसी स्रोत की प्रवृत्ति का प्रतीक है।

^२ राम के द्वारा रामायण की पराजय इसे सूचित करती है। लखी दाम के उपरान्त शिव की विरक्ति में भी यही संकेत है।

^३ शिव का पार्वती से विवाह, स्कन्द का अन्य देवताओं की छात्राता, शैव की पुनः प्रसिद्धा का ज्ञान है। अर्जुन और शंकर का युद्ध इसी का प्रतीक है।

^४ शिव-विष्णु के ममानक युद्ध को ब्रह्मा ने शान्त किया और दोनों को एक बताया इसमें शैव संघर्ष और अन्त में समन्वय का भाव बताया है। इस समन्वय को मूर्तियों में भी दर्शाया गया। शिव विष्णु की संयुक्त मूर्तियों उपलब्ध होती हैं।

^५ परशुराम और राम का संघर्ष भी इसी का प्रतीक है। परशुराम शिव भक्त थे, लखी उन्होंने निनाक के दृष्टिकोण पर राम की लक्षधरा। राम ने निनाक लोका का भटमा, और परशुराम की पराजय और शस्त्र-समर्पण शिव की पराजय के ही स्रोतक है।

किन्तु इस द्वाविही मन्त्र का प्राप्त्य विष्णु को कैसे मिला, यह जानना भी आवश्यक है, पर उससे भी आवश्यक यह जानना है कि वेदों का वह लघु विष्णु, जो इन्द्र और वरुण के समस्त हस्तप्रभ है, कैसे, याद में इस महत्त्व को पा सका !

विष्णु का विकास

विष्णु का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। ऋग्वेदों का यह उल्लेख ही विष्णु का प्रथम उल्लेख माना जाना चाहिए। ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक विष्णु के विषय में विकास दृष्टिगोचर होता है।

एक विद्वान् का कहना है कि—“ऋग्वेद के समय से धार्मिक और सामाजिक अवस्थाओं में बहुत अन्तर हो गया। जैसे अथर्ववेद में आते हैं वैसे ही यजुर्वेद संहिताओं और ब्राह्मणों में अब भी ऋग्वेद के पुराने देवताओं के दर्शन होते हैं। किन्तु उनका महत्त्व पूरी तरह मर चुका है और केवल यज्ञ से ही उन्हें अपनी शक्ति मिलती है। प्रत्युत जो ऋग्वेद में केवल गौण स्थान रखते हैं वे इन कर्मकाण्डी संहिताओं और ब्राह्मणों में वहीं अधिक प्राधान्य पा लेते हैं जैसे विष्णु और विद्योत्त उद्गमवा ‘शिव’।

ऋग्वेद में विष्णु का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यह इसी से सिद्ध होता है कि उसमें ऐसी ऋचाएँ बहुत ही कम हैं जिनमें विष्णु की ही स्तुति हो। विष्णु से अधिक ऋचाएँ इन्द्र, अग्नि, ब्रह्म, अरिष्यन् आदि की स्तुति में हैं। फिर अधिकांश ऋचाओं में विष्णु का उल्लेख अथि कितने ही देवताओं के साथ हुआ। उनसे यह प्रतिभासित होता है कि विष्णु या तो उन सब के समकक्ष है। या उनसे गौण। इन्हीं विष्णु को हम यजुर्वेद में ही कुछ निम्न रूप में पाते हैं।

यजुर्वेद के समय में आर्यों का धर्म पूर्णतः विकसित हो कर निश्चित हो चुका होगा। वैदिक धर्म कर्मकाण्डी सुस्वर्ची है। वह यज्ञ और याग को महत्त्व देता है। अतः यजुर्वेद के अन्तर यज्ञ की प्रक्रियाओं और मन्त्रों का समावेश हुआ। यज्ञ करने-करानेवासे मान्य समझे गये। यज्ञ प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। यज्ञ ही सर्व शक्तिमान माना गया और यही यज्ञ को विष्णु माना गया।

विष्णु के इस यज्ञ-स्वरूप को और ऋग्वेद में भी संकेत है परन्तु वह बहुत ही हल्का है। वहाँ 'पूर्वम् ऋतस्य गर्भम्' कहा गया है। यज्ञ और विष्णु बगो मिल गये इस सम्बन्ध में एक अनुमान रखा जा सकता है।

ऋग्वेद में विष्णु में सूर्य के गुणों की स्थापना मिलती है। सूर्य जैसी अव्युत शक्ति को ऋषियों ने अनेक दृष्टियों से देखा। उसके विभिन्न व्यापारों को उसकी मिल मिल विशेषताओं के रूप में पूषन्-पुषन् देवता स्वीकार कर लिया गया। जो पहिले विशेषण मात्र होंगे वे अब उसके नाम हो गये और अतः उनकी भी गणना देवों में होने लगी। 'सवितु' 'विवस्वत' आदि मूलतः विशेषण ही हैं। इसी प्रकार विष्णु भी सूर्य का ही एक नाम था।

विष्णु शब्द इन्द्र तथा वरुण की भाँति वेदों के अथ प्रकृति प्राची देवताओं के नामों से मिले हैं। इसकी व्युत्पत्ति पर कई प्रकार से विचार हुआ है। सायण ने इसका शब्दार्थ 'व्यापनशील' दिया है। अमरकोश ने 'वि + स्तु' म सधि विग्रह पूषन् इसका अर्थ 'पृष्ठ पर होकर' (Through the back) किया है। आप्टे ने इसको साधारण व्युत्पत्ति के लिए यह उदाहरण दिया है—

यस्माद्विष्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मन ।

तस्मादेवोच्यते विष्णुविशेषातो प्रवेचनात् ॥

इस व्युत्पत्ति में 'विष्' धातु का उल्लेख है और यह 'विष्' धातु ऐतिहासिक दृष्टि से हमें वेदों के उस विश्व शब्द तक पहुँचाती है जो ब्राह्मणों और श्रुतियों के विशेष बगों को छोड़ कर शेष समस्त आर्य वर्गों के लिए प्रयाग में आता था और जिसका रूप वैश्य शब्द में अभी तक सजीव है। आप्टे द्वारा दी गयी उपरोक्त व्युत्पत्ति में यदि हम विश्व के स्थान पर विश्व रख दें तो स्पष्ट हो जायगा कि विष्णु वह देवता है जो समस्त विश्व जाति का इष्ट था—फिर विष्णु नाम उस कार्य के किसी देवता को विश्व जाति के द्वारा दिया गया होगा और यह उसी वर्ग में विशेष प्रतिष्ठित होगा, यह संभावना विद्यत होती है। यही वैश्य जाति आज 'वणिज' भी कहलाती है और इतिहास के अन्वेषका की स्थापना है कि यह 'वणिज' शब्द वैदिक 'पणिस' का ही रूपान्तर है और आगे भी वे कहते हैं कि यह 'पणिस' वैदिक-काल की अनार्य जाति थी। यह जाति वैदिक और वैदिक-पूर्व काल में

अत्यन्त ही प्रसिद्ध व्यापारी जाति थी । जो दूर-दूर देशों में जाकर वाणिज्य करती थी । वेदों की साक्षी से विदित होता है कि यह जाति सस्तन-जाला में सिद्धहस्त थी क्योंकि इन्हें वेदों में 'प्रथिन' कहा गया है । इनके पास विशाल मोहे के कोट थे ये सोम विभ्रेता थे और य आर्यों की गायें चुरा ले जाते थे । इन्द्र ने इन्हें युद्ध में जीत कर सप्त सिन्धुओं का जलमोचन किया । अब यह उत्सेखनीय है और विचारणीय है कि आर्यों की वैश्य जाति का विश शब्द और अनार्यों की जाति के शीतक इस पणिस' या 'अणिक' का कैसे पर्यायवाची हो गया । निश्चय ही ये दोनों वर्ग परस्पर मिला-जुल गये होंगे । इस मेल-जोल में ही सम्भवतः यह रहस्य छिपा होगा कि शिव का स्थान विष्णु ने ग्रहण कर लिया ।

आर्यों और अनार्यों के इस मेल-जोल ने देवताओं के संघ में ही वह तरह अवस्था प्रस्तुत कर दी कि इन्द्र विष्णु शिव में कोई भेद नहीं रहा ठीक वैसे ही जैसे कबीर ने सिद्ध करने की चेष्टा की कि राम और रहीम में कोई भेद नहीं । यह तरलता आर्यों के विविध वर्गों के देवताओं के नामों के सम्बन्ध में भी थी । विष्णु के पर्यायवाची जिष्णु शब्द को लिया जाय तो विदित होगा कि यह सूर्य, इन्द्र, विष्णु तीनों के लिए आता है । शिव को महेन्द्र बनाया गया 'मह' विशेषण से अत्यन्त आदर प्रदान किया गया और अन्त में वही 'महेन्द्र' तीसरे स्थान पर पहुँच गये ।

जिष्णु और विष्णु की तुलना से यह भी विदित होता है कि 'जिष्णु' का मूल 'जि' है जिससे इसका शब्दार्थ होता है विजय की योग्यता वाला—विजेता । इसी अर्थ के कारण इन्द्र सूर्य, जिष्णु ही नहीं अजून भी जिष्णु कहे जाते हैं । उसी प्रकार 'वि'—माक्ष है । जिससे विष्णु हुषा-मोक्ष की योग्यता रखने वाला—मोक्ष दाता । इस मोक्ष का भाष इन्द्र के साथ वृत्र और पणिस से जल मोक्ष का है और वरुण के साथ पाश-मोक्ष अथवा शून शोक के मोक्ष का है सभी विष्णु उपेन्द्र है ।

विष्णु के सम्बन्ध में ऋग्वेद में उसके तीन पदों की बात कई स्थलों पर मिलती है । विष्णु के तीन पदों में सारे ससार का तथा वलि का मापा जाना हम पौराणिक गाथा की भाँति सुनते आये हैं । इसका बीज समस्त वेद के यही तीन रहस्यमय पद हैं । यही उनकी व्याख्या 'भू', 'भुव' 'म्व' के द्वारा की जाती है । उसका एक पद पृथ्वी पर, दूसरा अन्तरिक्ष अथवा वायु में और

तीसरा आकाश में । यह तीसरा पद पूर्णत रहस्यमय है, उसे परम पद भी कहा गया है । इस व्याख्या से भी विष्णु सूर्य का ही नाम प्रतीत होता है ।

पूषन, मित्रादि की तरह विष्णु सूर्य का पर्यायवाची है । अग्नि और सूर्य में भी कोई अन्तर नहीं । अग्नि मूलोक का देव है, सूर्य 'स्व' लोक का ।^१ कार्य दोनों का प्रायः समान ही है । अग्नि मनुष्यों के हाथ से हवि ग्रहण करके यज्ञ को सफल करता है, उसे देवों के पास पहुँचाता है, वह देवा का दूत है ।

'ज्योतिः सूर्यो मूर्यो ज्योतिः स्वाहा'

'ज्योतिर्गन्धिः अग्निर्ज्योतिः स्वाहा'

इन मन्त्रों 'मे' में सूर्य और अग्नि का एक मान और एक स्थान है । जो अग्नि है वही सूर्य है । अग्नि यज्ञ है सूर्य यज्ञ है । अग्नि सब देवों का दूत है तो उसे सर्व शक्तिमान नहीं कहा जा सकता । सूर्य भी भौतिक नाम रूपवाला है । पूषन मित्र सवितर आदि भी अपना-अपना कार्य करते हैं उनका क्षेत्र बँधा हुआ है । ऐसा कोई भी नहीं जो भू, भुव और स्व को पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश को अपनी तीन बर्गों से नाप लेता हो । ऐसा कोई नहीं है जो अन्य देवों (इन्द्रादि) की सहायता करने में यज्ञ प्राप्त कर चुका हो । सूर्य के अन्य पर्यायवाची शब्दों से विष्णु में यह आकर्षक अन्तर होने के कारण इस ओर अधिक ध्यान आकर्षित हुआ । उस विष्णु 'यज्ञ' कहा जाने लगा ।^२ और वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो गया । उसने ऋग्वेद के अथ सभी देवताओं का मान-मर्दन कर दिया ।

यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें खण्ड के आरम्भ में एक कथा लिखी हुई है । देवताओं में भगाड़ा उठ खड़ा हुआ उस

^१शाक्युषि ने विष्णु के इस त्रिक्रिय की बड़ी व्याख्या की है । उसके अनुसार विष्णु के प्रथम पद से अग्निप्रायः मूलोक के अग्नि क्षेत्र से है । वहीं विष्णु भुवः अन्तरिक्ष में इन्द्र वा वायु है और स्वः लोक में सूर्य है ।

^२'यज्ञ' शब्द विष्णु का पर्यायवाची है । और 'यज्ञ' के संयोग से बने मिलने शब्द हैं जो 'विष्णु' का अर्थ दते हैं—यथा बल्लभः, यज्ञेश्वरः, बल्लभः बल्लभः बल्लभः, बल्लभः यज्ञेश्वरः, बल्लभः बल्लभः, यज्ञ-नाटक, यज्ञेश्वर आदि । यज्ञ का अर्थ अग्नि भी है ।

म विष्णु विभयी रहे और सब से वे सभी देवताओं में श्रेष्ठ कहे जाने लगे । उनका नाम ही श्रेष्ठ पड़ गया । यह कथा भी यही प्रकट करती है कि तब ऋग्वेद के सभी देवताओं में विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गयी ।

वस्तुतः विष्णु का अन्मुखय यजुर्वेद से आरम्भ हुआ । फर्गुहर साहब ने लिखा है कि—

“जहाँ तक हमें प्रमाण मिले है यही प्रतीत होता है कि विष्णु का प्रथम उत्थान पुरोहितों द्वारा उसके यज्ञ माने जान के कारण हुआ । इस अर्थ में यजुर्वेद के संकड़ों चरणों में उसका नाम आता है ।¹

यजुर्वेद में विष्णु की प्रधानता रही । विष्णु और यज्ञ में कोई अन्तर नहीं रहा । यज्ञ इस समय सर्वपूजित था अतः विष्णु भी उसी स्थान को पा गये ।

ऋग्वेद में जो विष्णु बहुत पिछड़े हुए थे वे यजुर्वेद में चमक उठे । वहाँ विष्णु उपेन्द्र थे ‘इन्द्र के साथी’ थे उनका पृथक् कुछ महत्त्व न था । उन्हीं विष्णु को यहाँ पृथक् श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया । स्थिति में परिवर्तन हो गया । जो यज्ञ पहले कामना सफल करने और देवताओं को प्रसन्न करने का साधन था वह अब स्वयं साध्य हो गया । वह स्वयम् देवता हो गया । यज्ञ ही विष्णु है ऐसा कई स्थानों पर कहा गया । विष्णु अब व्यावहारिक कर्म-काण्ड से ऊपर उठने लगे, अब उनके सम्बन्ध में परिभाषा ही नहीं होती । उनका रूप भावार्थक हो चला । वह कर्म-क्षेत्र से उठकर ज्ञान-क्षेत्र में पहुँचने लगे । इस काल के वाक का साहित्य वैदिक कर्म तथा यज्ञ-याग प्रधान धर्म के प्रति एक क्रान्ति का अध्याय आरम्भ करता है । ऋषियों को प्रतीत होने लगा था कि यज्ञ-याग करने मात्र से काम नहीं चल सकता । उस यज्ञ के स्वरूप को जानना आवश्यक है । वह यज्ञ मानसिक भी हो सकता है । बृह-दारण्यक के आरम्भ में अश्वमेध यज्ञ की मानसिक उपासना के रूप में व्याख्या की गयी है । आरण्यक नगर से दूर एकान्त अरण्यों

¹ So far as our evidence goes it would seem as if Vishnu owed his first elevation to being identified with the sacrifice by the priests. In that sense his name occurs in hundreds of Passages in Yajurveda

के रहने वाले ऋषियों के निमित्त प्रतीत होते हैं। वहाँ वे अर्ध
धर्म के कर्मों को यज्ञयाग आदि का करने में किस प्रकार समर्थ
हो सकते थे ? वहाँ सुविधा और सामग्री कहाँ थी ! अतः वे मान
सिक उपासना करने लगे ।

वे यज्ञ के आवश्यक प्रतीत होने वाले उपचारों से भी घबड़ा
गये होंगे । यज्ञ की बलि ने भी उन्हें विचलित कर दिया होगा ।
ऋग्वेद में धनु शेफ का उल्लेख है उसकी कथा वैदिक ही है ।

हरिश्चन्द्र ने बरुण से प्रार्थना की 'मुझे पुत्र दो मैं उसे
आपको बलि दे दूँगा । पुत्र हुआ । बरुण ने बलि माँगी । हरि
श्चन्द्र टालता रहा । बड़ा हो जाने पर रोहित (हरिश्चन्द्र का पुत्र)
जङ्गल में भाग गया । बरुण के आप से हरिश्चन्द्र को जलौघर
रोग हो गया । इन्द्र के कहने से रोहित घन में घुसता रहा ।
अन्ततः वह ऋषि अजीमर्त के आश्रम में पहुँचा । ऋषि का कुटुम्ब
भूलों में मर रहा था । उसके तीन पुत्र थे धनु, पुष्य, धनु-शेफ धनो
साब गुरु । रोहित ने सौ गायें देने का वचन दिया और बदले में
ऋषि के एक पुत्र को इसलिये चाहा कि वह बलि बढ़ कर रोहित
को मुक्त करा दे । बड़ पर पिता का प्यार था छोटे पर माता
का । अतः धनु-शेफ रोहित के साथ गया । बलि की तैयारी हुई
ऋषि अजीमर्त ही गायों के प्रलोभन में अपने पुत्र की बलि बढ़ाने
को तैयार हो गये । धनु शेफ ने सोचा कि 'क्या मैं मनुष्य
नहीं हूँ फिर मुझ क्यों बलि बढ़ाया जाता है ? उसने सभी वैदिक
देवताओं की प्रार्थना की । उपा की प्रार्थना से हरिश्चन्द्र का रोग
दूर हो गया । धनु-शेफ मुक्त हो गया । इस प्राचीन कथा के रूप
में वैदिक कालीन बलि की भयकरता के प्रति कान्ति विनासी
पड़ती है । भारतीयों की प्रवृत्ति प्रत्येक प्राचीन शक्ति और इत्य
को अत्यन्त सम्माननीय मानने की ओर रही है । वे वैदिक कर्मों
को त्याग नहीं सकते थे । उन्होंने उसका रूप बदल दिया ।
उसे मानसिक-उपासना का रूप दे दिया । इस काल में वैदिक
कर्म को मानसिक और भावात्मक रूप मिलने के साथ उनके सध्य
पर विचार करने की ओर झुकाव देखा जाता है ।
इसी ब्राह्मण और आरण्यक के समय में 'ब्रह्म' का अधिकार
जानन और बताने की चेष्टा की गयी । ऋग्वेद में ब्रह्म सत्य के
लिए आया । अब ब्राह्मणों के प्रापाम्य से ब्रह्म यज्ञ तथा देवताओं
से भी बढ़कर हो गया । बिष्णुस्मिृत में इसी को सत्य करने

लिखा है—

“इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्रह्म अब स्वर्गीय देवताओं का पार्श्ववर्ती ‘मानवी दैवता’ नहीं रहा। वह दैवताओं से ऊँचा उठ गया है। शतपथ ब्राह्मण में ही यह तो कह दिया गया मिलता है कि ‘ऋषि से अबरोहित ब्रह्म ही वस्तुतः देवता है अर्थात् उसी में सब देवता समाहित हैं।’¹

ब्रह्म ने इस प्रकार प्रधानता पा ली। यह ब्रह्म इसी यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण सृष्टि का कर्त्ता हुआ। इसका रूप रहस्यमय होता गया। इस कर्म-मार्ग के ‘इन्द्र’ अग्नि और वरुण की उपासना को छोड़कर ऋषि लोग ब्रह्म में बैठकर ब्रह्म के सम्बन्ध में विचार करने लगे। कर्म-मार्ग की क्रांति ज्ञान-मार्ग में हो गयी। इस प्रत्यावर्तन ने ब्राह्मणों के युग का विकास उपनिषदों के रूप में कर दिया।

उपनिषदों में ऋषि कवियों ने इस रहस्य को बड़े मनोरञ्जक ढङ्ग से रखने की चेष्टा की। वे रहस्य को उस ब्रह्म को, अलौकिक दृष्टाने लगे। जो ब्रह्म को जानता है वह सबका जानता है उसकी प्राप्ति उसे मुक्त कर देगी। इस युग में वैदिक कर्म-मार्ग तथा बलि और यज्ञ-याग की कट्टरता प्रायः शून्यवत् ही रह गयी थी। इस प्रकार धीरे-धीरे वैदिक कट्टरता में परिवर्तन होता चला। इन्हीं उपनिषदों में अथर्ववेदीय उपनिषदों में हमें साम्प्रदायिक देवताओं के रूप दीख पड़ते हैं।

अथर्ववेद से हमें जिस ज्ञान विज्ञान का पता मिलता है उस पर बहुत कुछ सौक्यता का प्रभाव है। कुछ समुदाय तो आज भी अथर्ववेद को मानने के लिए तैयार नहीं। निस्संदेह अथर्ववेद बहुत काल बाद वेदों में सम्मिलित किया गया। उसका सम्पादन भी बहुत बाद में हुआ। इस सौक्य प्रभाव से मुक्त वैदिक उपनिषदों

¹ Thus at last the conclusion is arrived at, that the Brahman is no longer a human god by the side of the heavenly gods but that he raises himself above the gods. Already in the Satapatha Brahman it is said “The Brahman descended from a Rishi indeed is all deities” i. e. in him all deities are incorporated.

स्वच्छन्द वायु को भोगता हुआ यह ब्रह्म विश्व-देव के रूप में ग्रहण किया गया। यह ब्रह्म विश्व-आत्मा के रूप में दूसरी कोटि के उपनिषदों का विषय बना। साम्प्रदायिक उपनिषद् तीसरा श्रेणी में रखे गये हैं। उनमें आत्मा के स्थान पर विष्णु अथवा शिव के किसी रूप को रख दिया गया है। इनमें से कुछ पूर्ववर्ती योग-सिद्धान्त के आधार पर हैं। वाद के उपनिषदों में उनके वाद-तार्थों के निजी गुणों का अधिकाधिक प्रकाशन किया गया है। इस श्रेणी के उपनिषदों की एक भारी विशेषता यह है कि प्रायः सभी के अन्त में पाठ करने वालों और मनन करने वालों के लिए बड़े बड़े बदलावों की आज्ञा दिलायी गयी है और विशेष आराध्य के पवित्र शब्दों और पूजनीय सिद्धान्तों का भी कहीं-कहीं अन्त में उल्लेख है। अब विष्णु इन उपनिषदों में कैसे विकसित हुए?

विष्णु सम्प्रदाय के उपनिषदों में सबसे पुराना रूप विष्णु की पूजा का नारायण है। यह नाम सबसे पहले सप्तम ब्राह्मण के दूसरे भाग में मिलता है। यहाँ इस शब्द का सम्बन्ध विष्णु से नहीं। यहाँ तो यह जैसे मनु और विष्णु-पुराण के आरम्भ में आता है ब्रह्म (पुल्लिग) का चोतक है। तृतीय आरम्भ की नारायणीय उपनिषद् में भी यही बात है। अथर्वण सस्वरूप की बृहन्नारायणीय उपनिषद् में भी यही लिखा है। इसमें इतना तब भी है कि उसे (नारायण को) 'हरि' नाम दिया गया है और एक स्थान पर तो वासुदेव और विष्णु से भी सीधा उसका सम्बन्ध कर दिया गया है। महाउपनिषद् में ही सबसे पहले नारायण स्पष्ट रूप से विष्णु का प्रतिनिधि गोबर होता है। महाउपनिषद् एक गद्य रचना है। इसके प्रथम भाग में नारायण से विश्व का प्रादुर्भाव बतलाया गया है, और दूसरे भाग में नारायणीय उपनिषद् के मुख्य स्थलों का अवयव है। इसमें नारायण स्पष्टतः विष्णु के प्रतिनिधि की भाँति आया है। क्योंकि भूस्वपाणि (शिव) और ब्रह्मा उससे उद्भूत होते हैं और विष्णु का कहीं उल्लेख नहीं। नारायणीय उपनिषद् में यह बात नहीं। वहाँ महाभारत के १२वें सर्ग के नारायण नामक अध्याय की तरह उससे विष्णु भी प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ जो मन्त्र सिखाया गया है वह है 'ओम् नमो नारायण'। इस उपनिषद् का एक दूसरा पाठ भी उपलब्ध है, जो अथर्व शिराओं का एक भाग है। उस में देवकी पुत्र मधुसूदन को बिन्दो पत 'ब्रह्मण्य' (पवित्र) कहा गया है। यह बात आत्म-प्रबोध

उपनिषद् में भी है जिसमें नारायण को परमेश्वर कह कर अभिहित किया गया है । गर्भोपनिषद् में भी नारायण को इसी गुण से युक्त बतलाया गया है ।

इसके बाद विष्णु का दूसरा रूप नृसिंह है । अब तक जितना अनुसंधान हुआ है उससे यह विदित होता है कि विष्णु को नृसिंह नाम से तथा वज्रनख और तोखण वंष्ट उपाधियों सहित पहले-पहल तैत्तिरीय आरण्यक १० १-८ (नारायणीयोपनिषद्) में लिखा गया है । जिस उपनिषद् में इनकी सबसे पहले उपासना की गयी वह 'नृसिंहतापनी' है । यह अपेक्षाकृत अधिक बड़ी है । इसके दो भाग हैं । दोनों में ब्रह्मा विष्णु, महेश इस त्रयी का बराबर उल्लेख हुआ है ।

यह सम्भवतः ईसा की चौथी शताब्दी का ग्रन्थ है क्योंकि उसी समय भारत के पश्चिमी घाट पर नृसिंह की पूजा प्रचलित थी, जिसका अब कहीं चिन्ह भी नहीं मिलता ।

रामतापनी उपनिषद् में राम की परम ब्रह्म की भाँति उपासना है । यह नृसिंहतापनी उपनिषद् से अधिक मिलसी-जुलसी प्रतीत होता है । दूसरे भाग में तो यह मेल और भी अधिक है । इसमें याज्ञवल्क्य राम के दिव्य ऐश्वर्य के व्याख्याता की तरह आते हैं । साम्प्रदायिकता की पूरी छाप वहाँ मिलती है जहाँ पर स्वतः शिव (शंकर) राम से यह प्रार्थना करते हैं कि वे उन व्यक्तियों को जो मणिकर्णिका या गंगा में डरे मुक्त कर दें । यह उपनिषद् रामानुज-शास्त्रा का है । इसकी तिथि ग्याहरवीं सदी हो सकती है ।

विष्णु को विष्णु पुरुषोत्तम वासुदेव नाम से परमात्मा की भाँति कई उपनिषदों में स्मरण किया गया है, कुछ में कृष्ण देवकी पुत्र की तरह आते हैं (आत्मप्रबोध और नारायण) परन्तु इनमें वे परमात्मा की तरह नहीं आते । गोपालतापनी में उन्हें पहले पहल दिव्य कोटि में रखा गया है । इसमें पहले मथुरा और व्रज की गोपियों का वर्णन है । फिर मथुरा को 'ब्रह्मपुर' बतलाया गया है । निस्संदेह यह बहुत आधुनिक है क्योंकि माया की दृष्टि से भी प्रार्थना नहीं असम्भवी । गोपीचन्दन उपनिषद् का भी सम्भवतः यही स्थान है ।

इस कल्प अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्प्रदायिक छाप से मुक्ति उपनिषदें बहुत पुरानी नहीं हैं । उनमें भूतन युग की बहुत सी बातें लिखी हुई हैं । कम से कम 'तापनीयोपनिषद'

तो अवश्य ही मयी हैं । निस्सदिह बीड़ों से पूर्व विष्णु-पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है ।

उस 'विष्णु' ने ऋग्वेद कालीन 'सूर्य' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठता बना उसे ब्रह्मा को कोटि तक पहुँचा दिया गया । उसी को अब बीरे-बीरे विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित करने के लिए नारायण नृसिंह राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे । कितन रंगों की रजित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य को हन्द्र घनुयी बनाया ।

इतिहास का सिद्धान्तोक्तन इसे ठीक विज्ञा देता है कि जिस पथ से भारतीय सभ्यता की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अभी भक्ति-क्षेत्र नहीं आ पाया था । कर्म को वेदों ने उठाया, ज्ञानवाद को उपनिषदों ने छोटी पर पहुँचा दिया । कर्म के लिए आह्वान की आवश्यकता थी वह समाज के लिए साधारण जनता के लिए, एक झुल्लू का काम था । 'ज्ञान' कुछ विरक्तों और विद्वानों की अङ्गुली कुटियों तथा पर्णशालाओं के शान्त वातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया । सबकी उस तक पहुँच कहाँ थी ? शोक समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था । वह उनका विरोधी नहीं था । जो कुछ महापुरुषों के दिव्य मुस से निकलता उसे शोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढाल कर उसे काम में लाता था । बहुत काल से यही प्रथा थी ।

समाज के पास कवि-हृदय था । जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हुद्दाम की उफनती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारा के रहस्य को 'रूप' दिया उनसे अपना निकटत्व स्थिर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाओं की सृष्टि कर दी, वही कवि-हृदय इस समय ब्रह्मा के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था । ऐसे ही युग में महामारत और रामायण का जन्म हुआ ।

‘आ निपाद प्रतिष्ठाम्’ इन शब्दों में बना वाला ही भौतिक काव्ययारा महर्षि वाल्मीकि के मुस से प्रवाहित हो उठी । सात्पर्य, वैदिक और औपनिषदिक डीचे पर भौतिक-रंग चढ़ गया । उस पर 'शोक' की छाप गहरी बैठ गयी । वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्मा था, अनादि अनन्त, अजर, अमर आत्मा था राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो

गया ।

‘महाभारत’ और ‘रामायण’ इन दोनों काव्य ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-सूत से धूम्य है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है । महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है । इस प्रकार ‘महाकाव्य’ काल में विष्णु का रूप हो गया—

राम ब्रह्म परमार्थ रूपा ।

अविगत अरुण अनादि अनुपा ।

सकल-विकार-रहित गति वेदा ।

बहि नित-नेति निरूपहि वेदा ।

भगति भूमि भूसुर-सुरभि सुर हित लागि रूपाल ।

करत धारता धरि मनुज तन सुनत मिटहि जगजाल ।

इस विष्णु के विकास का दर्शन करके अब विष्णु शिव सभ्य में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यों ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है रुद्र को क्षतरुद्रीय में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेनजोदड़ो वासी शिव को सूर्य मानते थे—तब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया ।

पञ्चपुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं । इसी पुराण में सूर्य को रुद्रवपुष कहा गया है । सौरपुराण में रुद्र को आकाश में स्थित माना है और गरुडपुराण में शिव सूर्यमनस कहा गया है । बारह अवित्यों में विष्णु के अर्थ शिव अववा रुद्र भी हैं । अथ महाभारत वामन कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यबाणक नामों से अमिहित किया गया है । भग भी शिव का एक नाम है । रुद्र अग्नि भी है । इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव विष्णु एवं भूमि पर आ गये तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे रुद्र को पदच्युत कर दिया, इस शिव को भी हटा दिया । इसका ऐतिहासिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टतः यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में श्रेष्ठ कौन है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही श्रेष्ठ माने गये, भूगु की लात से विष्णु की जय ही घोषित होती है । इस प्रकार शिव हट गये, विष्णु प्रधाम हो गये, शिव से जो भक्ति संलग्न थी वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी । और जब तक

तो अवश्य ही मपी हूँ । निस्तदेह बीरों से पूर्व विष्णु-पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवधारण रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है ।

उस 'विष्णु' ने ऋग्वेद काभीन 'भूय' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठता बना उसे ब्रह्म की काटि तक पहुँचा दिया गया । उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न अर्थों में साम्प्रदायिक ध्याप से मग्नित करने के लिए माणवण नृसिंह राम और किर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे । कितने रंगों की रचित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने भौतिक साहित्य का इन्द्र धनुषी बनाया ।

इतिहास का सिंहावलोकन इसे ठीक दिखा देता है कि जिस पक्ष से भारतीय मन्मथा की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अभी भक्ति-शेन नहीं आ पाया था । कर्म को बेवों ने उठाया शानवाद को उपनिषदा ने चोटी पर पहुँचा दिया । कर्म के लिए आडम्बर की आवश्यकता थी वह समाज के लिए साधारण जनता के लिए एक भस्म का काम था । 'ज्ञान कृष्ण बिरबसों और विद्वानों की जङ्गली कुटियों तथा पर्षयालाओं के शान्त आतावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया । सबकी उम तक पहुँच कहाँ थी ? लोक समुदाय उसे उधिन आबर देना चाहता था । वह उनका बिरोधी नहीं था । जो कृष्ण महापुरुषों के दिव्य मुख से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में ढाल कर उसे काम में लाता था । बहुत काल से यही प्रथा थी ।

समाज के पास कवि-हृदय था । जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हृदय की उत्पत्तती हुई भावनाओं से प्रकृति के व्यापारा के रहस्य को 'रूप' दिया उनसे अपना निकलत्व स्थिर किया । एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाश्री की सृष्टि कर ही वही कवि-हृदय इस समय ब्रह्म के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था । उस ही युग में महामारुत और रामायण का जन्म हुआ ।

‘मा निपाय प्रतिष्ठाम्’ इन शब्दों में अना पास ही भौतिक वाच्यधारा महर्षि आत्मीकि ने मुख से प्रवाहित हो उठी । तात्पर्य बन्कि और श्रीपतिपदिक डीचे पर भौतिक-रंग चढ़ गया । उस पर 'भोक्' की ध्याप गहरी बैठ गयी । वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था, अनादि, अमल अमर अमर आत्मा वा राम हो गया, नारायण हो गया, नृसिंह हो गया और यही कृष्ण हो

गया ।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनों काव्य ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-भूत से शून्य है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है । महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है । इस प्रकार 'महाकाव्य' काल में विष्णु का रूप हो गया—

राम ब्रह्म परमात्मन रूपः ।

अविगत अलस अनादि, अनृपा ।

सकल-विकार-रहित गति भेदा ।

कहि नित-नेति निरुपाहि वेदा ।

भगति भूमि भूसुर-सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।

करत चरित धरि मनुष्य तन सुनत मिटाहि जगजाल ।

इस विष्णु के विकास का दर्शन करके अब विष्णु शिव सत्य में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यों ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है रुद्र का सतद्वीय में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेनजोदड़ों वाली शिव को सूर्य मानते थे—तब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया ।

पद्मपुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं । इसी पुराण में सूर्य का रुद्रवपुष कहा गया है । सौरपुराण में रुद्र का आकाश में स्थित मामा है और गरुड़पुराण में 'शिव सूर्यात्मनः' कहा गया है । बारह अवस्थाओं में विष्णु के अर्थ शिव अथवा रुद्र भी हैं । अन्य महाभारत वामन, कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यवाचक नामों से अभिहित किया गया है । भगं भी शिव का एक नाम है । रुद्र अग्नि भी है । इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव विष्णु एक भूमि पर आ गये, तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे इन्द्र को पदच्युत कर दिया, इस शिव को भी हटा दिया । इसका ऐतिहासिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टतः यह प्रत्यक्ष प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में घेष्ठ कौन है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही घेष्ठ मान गये भूगु की छात से विष्णु की जग ही घोषित होती है । इस प्रकार शिव हट गये विष्णु प्रधान हो गये शिव से जो सबित संलग्न थी वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी । और जब तक

तो अवश्य ही नयी हैं। निस्संदेह बीड़ों से पूर्व विष्णु-पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है।

उस विष्णु ने ऋग्वेद काभीन 'मूय' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अघिष्ठता बना उसे ब्रह्म की मोटि तक पहुँचा दिया गया। उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक ध्याप से मुद्रित करने के लिए मारायण नृसिंह राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे। कितने रंगों की रचित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य को इन्द्र-धनुषी बनाया।

इतिहास का सिद्धान्तलोकन इसे ठीक दिखा देता है कि जिस पक्ष से भारतीय सम्प्रदाय की धारा विकास की ओर जा रही थी उसमें अमी भक्ति क्षेत्र नहीं आ पाया था। कम को वेदों ने उठाया ज्ञानवाद को उपनिषदों ने थोड़ी पर पहुँचा दिया। कम के लिए आङ्गव्यवस्था की आवश्यकता थी वह समाज के लिए साधारण जनता के लिए एक ऋग्वेद का काम था। 'ज्ञान' कुछ विरक्तों और विद्वानों की जङ्गली कूटियों तथा पणशाखाओं के घात बातावरण की मननीय सम्पत्ति रह गया। सबकी उस तक पहुँच कहाँ थी? लोक समुदाय उसे उचित आदर देना चाहता था। वह उनका विरोधी नहीं था। जो कुछ महापुरुषों के विषय मूल से निकलता उसे लोक ग्रहण कर लेता था और अपने रूप में डाल कर उसे काम में लाता था। बहुत काल से यही प्रथा थी।

समाज के पास कवि-हृदय था। जिस कवि-हृदय ने आदि वैदिक काल में अपने उद्दाम हुद्याम की उफानी हुई भावनाओं में प्रकृति के व्यापारा के रहस्य को 'रूप' दिया उनसे अपना निवृत्त स्वर किया एवम् उनमें सचेतन मनुष्य की क्रियाश्रु की सृष्टि कर दी वही कवि हृदय इस समय ब्रह्म के रहस्य को अपने समय के अनुसार बनाने में सचेत था। ऐसे ही युग में महामारत और रामायण का जन्म हुआ।

इन धर्मों में बना यास ही लौकिक वाक्यधारा महर्षि वाल्मीकि के मूल से प्रवाहित हो उठी। तात्पर्य वैदिक और उपनिषदिक धर्मों पर लौकिक-रंग चढ़ गया। उस पर 'लोक' की ध्याप गहरी बैठ गयी। वह विष्णु जो रहस्यमय ब्रह्म था अनादि अनन्त, अजर अमर आत्मा या राम हो गया, मारायण हो गया, नृसिंह हो गया और वही कृष्ण हो

गया ।

'महाभारत' और 'रामायण' इन दोनों काव्य ग्रन्थों में देवताओं का एक वह रूप मिलता है जो साम्प्रदायिक-छूत से भूय है और दूसरा वह जो विशेषतः किसी देव विशेष की भक्ति का प्रचार करने के लिए लिखा गया है । महाभारत विष्णु की उपासना के प्रचार के ही लिए लिखा गया प्रतीत होता है । इस प्रकार 'महाकाव्य' काल में विष्णु का रूप हो गया—

राम ब्रह्म परमार्थ रूपा ।

अविगत अल्प अनादि अनूपा ।

सकल-विकार-रहित गति भेदा ।

कहि नित-नेति निरुपाहि वेदा ।

भगति भूमि भूसुर-सुरभि सुर हित साधि कृपासु ।

करत परित धरि मनुष्य जन सुनत मिटहि जगजाल ।

इस विष्णु के विकास का वर्णन करके अब विष्णु शिव संधर्ष में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यों ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है रुद्र को दक्षद्वीप में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेनजोदड़ो वाली शिव को सूर्य मानते थे—तब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया ।

पद्मपुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं । इसी पुराण में सूर्य को रुद्रवपुष कहा गया है । सौरपुराण में रुद्र को आकाश में स्थित माना है और गरुडपुराण में "शिव सूर्यायनम्" कहा गया है । बारह अदित्यों में विष्णु के अथ शिव अथवा रुद्र भी हैं । अन्य महाभारत वामन कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यवाचक नामों से अभिहित किया गया है । भग्न भी शिव का एक नाम है । रुद्र अग्नि भी है । इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव विष्णु एक भूमि पर आ गये तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे रुद्र का पदभ्यूत कर दिया इस शिव को भी हटा दिया । इसका ऐतिहासिक उल्लेख दशमस्कन्ध ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टतः यह प्रदन प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में अष्ट कीर्ति है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही श्रेष्ठ माने गये भृगु की सात से विष्णु को अथवा भी घोषित होती है । इस प्रकार शिव हट गये विष्णु प्रणाम हो गये शिव से जो भक्ति संलग्न थी वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी । और अब रुद्र

पैतरी भारत में यज्ञ-संस्कृति का प्राबल्य रहा, यह मन्त्रि-पूर्वा की संस्कृति पक्षिण में सुरक्षित रही । जैसे ही यज्ञ-संस्कृति का दीर क्षिपिल पड़ा यह मन्त्रि यज्ञ पति विष्णु को वरण करके यज्ञ को परास्त करने में सफल हुई । जब विष्णु 'यज्ञ मोक्ष' न रह कर मन्त्रि-मोक्ष हो गये ।

किन्तु मन्त्रि के विकास में एक धीर मार्ग तय करना था । विष्णु कब अवतार ले सके ? कब कैसे धीर क्यों ये राम धीर कृष्ण बने ? यह भी कहानी रोचक ही है ।

विष्णु से कृष्ण

विष्णु कैसे कृष्ण में अवतरित हुए अथवा रूपान्तरित हुए इसे समझने के लिए भी हमें समस्त वेदों से ही आरम्भ करना पड़ेगा क्योंकि यों तो अवतारवाद का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है पर उसको एक बार विचार का विषय न भी बनाया जाय तो भी यह प्रश्न बहुत ही आवश्यक है कि अवतार के लिए विष्णु ने कृष्ण को क्यों चुना और क्यों आगे के कवियों ने कृष्ण के लिए भा यह कहा कि उसके सन्तान में वेदों ने नेति-नेति कहा है। क्या राम और क्या कृष्ण दोनों का प्रमाण वेद है और यह बहुत ही अद्भुत बात लगती है। वेदों में न राम हैं और न कृष्ण। हो भी कैसे सकते हैं। वेद तो सबसे आरम्भिक ग्रंथ हैं। राम और कृष्ण को यदि ऐतिहासिक पुरुष माना जाय तो दोनों ही वेदों की रचना के बहुत बाद में अवतीर्ण हुए। किन्तु बात इतनी साधारण नहीं है। वेदों में तो त्रिकार की बात हो सकती है। न भी हो तो भी कृष्ण का जो व्यक्तित्व हमें आज मिलता है वह इतना जटिल है कि कभी कभी विद्वान तत्त्वदर्शी कृष्ण के ऐतिहासिक पुरुष होने में ही सन्देह करने लगते हैं। उनकी दृष्टि में कृष्ण नाम का व्यक्ति घरा पर अवतीर्ण नहीं हुआ। वह केवल कवि की कल्पना और लोक की वार्ता से उत्पन्न हुआ है और इस प्रकार उसके जटिल विकास में कई अवस्थाएँ मिलती हैं।

कृष्ण क्या है ? वे नारायण हैं वे वासुदेव हैं वे भागवत हैं वे गोपाल हैं, वे गोपबर्धन भारी हैं, असुर संहारी हैं माग नायने वाले हैं, आदि आदि।

महामारुत की साक्षी से विदित होता है कि पहले नारायणी सम्प्रदाय था। शान्तिपर्व में इसके विषय में भगवान ने कहा है

कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा । जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा । यही यह समाप्त हो जायगा । इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु-बलि-रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे सादात हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे । यह यज्ञ आरम्भ विधि से था अर्थात् मानसिक या एकांतिक या सभी वसु उपरिचर को एकांतिक उपासक कहा गया है ।

उपर नारद ने स्वतटीप में नारायण के दर्शन किये । वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी । इसमें उन्होंने वासुदेव संकषण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बताया ह और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करेगा । इसी को एकान्तिन धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं ।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महामारुत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित नहीं । वह वसु उपरिचर तक रहा । 'हरि' उसके इष्ट का नाम था वह पशु-बलि विरोधी और एकांतिक उपासक था । उपरिचर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विधीन हो गया । सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुल था । यह पञ्चति में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्मरण पर वसुदेव-भूह को मानने लगा था । ऊपर के आक्षेप यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया । अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव संकर्षण' हो गये थे ।

यह सात्वत धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली प्रकार प्रचलित था । पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ङग से यह उल्लेख हुआ है उसी से माध्य कार पार्तजलि ने बताया ह कि वासुदेव केवल क्षत्रिय राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे । अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे ।

राजपूताने का थोसुण्डी का शिला लेख ई० पू० २०० का प्रतीत होता है । उसमें और १०० वष ई० पू० के मानाभाट गुफा के शिला-लेख में संकर्षण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है ।

इसी काष्ठ में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में येसनगर का गद्यस्तम्भ हेमियोबोर ने सर्वेश्वर वासुदेव के लिये स्थापित

किया था। इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व से प्रचलित सात्वत धर्म ई० पू० की पहली-दूसरी शताब्दी तक सभी प्रकार लोक-प्रिय हो गया था और इसको अब सात्वत मानकर समस्त भागवत कहा जाने लगा था। समस्त भागवत शब्द का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले छंदों के लिए हुआ है। पातञ्जलि ने महाभाष्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है। शिव भागवत से यह भागवत शब्द बिष्णु को मिला होगा ऐसी संभावना विद्यित होती है। अथर्वशिरस उपनिषद् में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव को 'भगवत' कहा गया है। और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं, यद्यपि कोप में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवत' शब्दवन सभी देवताओं के लिए आ सकता है। नारायण, सात्वत और छंदों के संगम से नारायण हरि वासुदेव भगवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्राय था बिष्णु। किन्तु वासुदेव सत्कर्षण का व्यूह तो मानव-समूह का व्यूह था जो नारायण हरि बिष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे मनुष्यों की भाँति शरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म मरण से युक्त थे। यह भी विद्यित होता है कि ये सात्वत नाम की भाँति के दृष्ट व में उनके कृष्ण के वीर थे।

इसके बाद में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा। ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों से भारत में आये। किन्तु नई धारणा से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवतः आदि अनाथ हैं। इनका नाम तामीळ भाषा का आभीर है जिसमें आ का अर्थ माय है। आभीर अथवा अहीर तामिल शब्द आभीर में गोप-गोपालों का पर्याय है। अहीर की राज में ग्वाला भी कहा जाता है। ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे। कृष्ण इनका नेता था। वेदा में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अंधा मती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था। डा० डी० आर० भंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है। (डी० आर० भंडारकर सम अस्पेक्ट्स आव ऐशियट इण्डियन कल्चर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का अनिवार्य संबंध है।

कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा । जिनसे राजा बसु उपरिषर को प्राप्त होगा । यही यह समाप्त हो जायगा । इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर बसु उपरिषर ने पशु बलि रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात् हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे । यह यज्ञ आरम्भक विधि से था अर्थात् मानसिक या एकांतिक या समी, बसु उपरिषर को एकांतिक उपासक कहा गया है ।

उधर नारद ने स्वतन्त्रीय में नारायण के दर्शन किये । वहाँ उन्होंने अपने बसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी । इसमें उन्होंने बसुदेव संकल्पण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर ब्रह्मादि असुरों का संहार करूँगा । इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं ।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित नहीं । वह बसु उपरिषर तक रहा । 'हरि' उसके इष्ट का नाम था वह पशु-बलि-विरोधी और एकान्तिक उपासक था । उपरिषर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में बिसीन हो गया । सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुरु था । यह पृथ्वी में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्थान पर 'बसुदेव-भ्युह' को मानने लगा था । ऊपर के आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया । अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव संकल्प' हो गये थे ।

यह सात्वत धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली प्रकार प्रचलित था । पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ढंग से यह उल्लेख हुआ है उसी से भाष्यकार पातञ्जलि ने बताया है कि वासुदेव केवल अश्वि राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे । अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे ।

राजपूताने का घोसुण्डी का शिला सेल ई० पू० २०० का प्रतीत होता है । उसमें और १०० वर्ष ई० पू० के मानापाट गुफा के शिला-सेल में संकल्पण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है । इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में येमनगर का गडकस्तम्भ हेलियोबोर में सर्वेश्वर वासुदेव के लिये स्थापित

किया था । इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है । इसमें यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व में प्रचलित सात्वत धर्म ई० पू० की पहली-दूसरी सताव्सी तक सभी प्रकार लोक-प्रिय हो गया था और इनको अब सात्वत न कहकर समवन भागवत कहा जाने लगा था । समवन भागवत धर्म का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले र्षीों के लिए हुआ है । पान्चनि ने महामाध्य में शिव भागवतों का वर्णन किया है । शिव भागवत से यह भागवत धर्म बिष्णु को मिला होगा ऐसी समझना विवक्षित होती है । अथर्वशिरस उपनिषद् में और श्वेता श्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव का 'भगवत' कहा गया है । और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं यद्यपि काप में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवत' संशोधन सभी श्वताव्या के लिए आ मबना है । नारायण सात्वत और शैवा व सगम से नारायण हरि, वामुदेव भगवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रत था 'विष्णु' । किन्तु वामुदेव सत्पण का झूह तो मानव-समूह का झूह था जो नारायण हरि विष्णु की भाँति श्वता मान नहीं थे मनुष्यों की भाँति धरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से युक्त थे । यह भी विवक्षित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के दृष्ट व ये उनके कुल के बीर थे ।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा । ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं । इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों में आने में आए । किन्तु नई दावों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवतः आदि अनाथ हैं । इनका नाम सामीक भाषा का आभीर है जिसमें आ का अर्थ गाव है । आभीर अथवा अहीर तामिल धर्म आभीर में गोप-स्वालों का पर्याय है । अहीर को राज में ग्वाला भी कहा जाता है । ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे । कृष्ण इनका नेता था । वेदा में भी एक ऐस कृष्ण का उल्लेख है जिसमें अमु मती नगी के किनारे द्वाद से युद्ध किया था । डा० डी० आर० भंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है । (डी० आर० भंडारकर सम अस्पेक्टस आव ऐणयट इंडियन कम्पनर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का अनिष्ट संबंध है ।

क यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा । जिनसे राजा वसु उपरिषर को प्राप्त होगा । यही यह ममाप्त हो जायगा । इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिषर ने पशु बलि रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात् हरि ने प्रकट हाकर दर्शन दिये थे । यह यज्ञ आरभ्यक विधि से था अर्थात् मानसिक या एकांतिक या सभी वसु उपरिषर को एकांतिक उपा सक कहा गया है ।

उधर नारद ने स्वतन्त्रीय में नारायण के दर्शन किये । वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी । इसमें उन्होंने वासुदेव संकर्षण प्रबुद्ध और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बसाया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करूँगा । इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं । इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महामारस यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म हैं जिसकी परम्परा विदित नहीं । वह वसु उपरिषर तक रहा । 'हरि' उसके दृष्ट का नाम था वह पशु-बलि विरोधी और एकान्तिक उपासक था । उपरिषर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विसीन हो गया । सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुरु था । यह पद्धति में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्थान पर 'वासुदेव-व्यूह' को मानने लगा था । ऊपर के आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया । अब इच्छा हरिनारायण 'वासुदेव संकर्षण' हो गये थे ।

यह सात्वत धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में मसी प्रकार प्रचलित था । पाणिनी ने वासुदेव का उल्लेख अपने सूत्र में किया है और जिस ढंग से यह उल्लेख हुआ है उसी से भाष्य कार पातञ्जलि ने बताया है कि वासुदेव केवल सत्रिय राजा ही नहीं थे वह ईश्वर थे । अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे ।

राजपूताने का वासुदेवी का शिला सेरा ई० पू० २०० का प्रतीत होता है । उसमें और १०० वर्ष ई० पू० के नानाघाट गुफा के शिला-लेख में संकषण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है । इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में वसुनगर का गदकस्तम्भ हेमियोदोर ने सर्वप्रथम वासुदेव के लिये स्थापित

किया था । इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है । इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-पूर्व से प्रचलित सात्वत् धर्म ई० पू० की पहली-दूसरी सताब्दी तक मली प्रकार लोक-प्रिय हो गया था और हमको अब सात्वत् म कहकर सम्बन्ध भागवत कहा जाने लगा था । सम्बन्ध भागवत शब्द का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले शैबों के लिए हुआ है । पातञ्जलि ने महाभाष्य में शिव भागवतो का वर्णन किया है । शिव भागवत से यह भागवत शब्द बिष्णु को मिला होगा ऐसी सम्भावना विद्यित होती है । अथर्वशिरस उपनिषद् में और द्रवता इतर उपनिषद् में शिव अथवा वह शिव को 'भागवत' कहा गया है । और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं यद्यपि कोप में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भागवत' संबोधन सभी देवताओं के लिए आ सकता है । नारायण सात्वत और शैबों के सगम से नारायण हरि, वामदेव, भागवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रेत था 'बिष्णु' । किन्तु वासुदेव सकर्षण का झूठ तो मानव-समूह का झूठ था जो नारायण हरि बिष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे मनुष्यों की भाँति शरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से मुक्त थे । यह भी विद्यित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के दृष्ट थे ये उनके कुल के वीर थे ।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राचाय हो उठा । ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं । इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों से भारत में आये । किन्तु नई घोषों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवतः आदि अनाथ हैं । इनका नाम तामील, भाषा का आभीर है जिसमें आ का अर्थ पाय है । आभीर अथवा अहीर तामिल शब्द आभीर में गोप-वासियों का पर्याय है । अहीर को व्रज में खाला भी कहा जाता है । ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे । कृष्ण इनका नेता था । वदों में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अंधा-मती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था । डॉ० टी० आर० भंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है । (डॉ० आर० भंडारकर सम अस्पेक्टस जाव ऐंघयट इंडियन कलचर) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ बृहस्पति तक पहुँचेगा ।
जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा । यहीं यह समाप्त हो
जायगा । इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु
बलि रहित अश्वमेध यज्ञ किया तब उसे साक्षात् हरि ने प्रकट
हाकर दर्शन दिये थे । यह यज्ञ आरभ्यक विधि से था अर्थात्
मानसिक या एकांतिक या तभी वसु उपरिचर को एकांतिक उपा
सक कहा गया है ।

उपर नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन किये । वहाँ
उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी । इसमें
उन्होंने बसुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ
बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर
कसावि असुरों का संहार करूँगा । इसी को एकांतिक धर्म बतलाते
हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं ।

इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महामारत यह
मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है जिसकी परम्परा विदित
नहीं । वह वसु उपरिचर तक रहा । 'हरि' उसके इष्ट का नाम था
वह पशु-बलि विरोधी और एकांतिक उपासक था । उपरिचर
से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में बिलीन हो गया । सात्वत
सम्प्रदाय ही नहीं एक कुरु था । यह पद्धति में नारायणीय था किन्तु
'हरि' के स्थान पर वसुदेव-म्यूह को मानने लगा था । ऊपर के
आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय
निगल लिया । अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव संकर्षण' हो
गये थे ।

यह सात्वत धर्म पाणिनि के समय से बहुत पूर्व भारत में भली
प्रकार प्रचलित था । पाणिनी ने बसुदेव का उल्लेख अपने सूत्र
में किया है और जिस ढंग से यह उल्लेख हुआ है उसी से माध्य
कार पातञ्जलि ने बताया है कि बसुदेव केवल क्षत्रिय राजा ही
नहीं थे वह ईश्वर थे । अनुमान है कि पाणिनि ई० पू० सातवीं
से पाँचवीं शताब्दी में हुए थे ।

राजपूताने का बौमुण्डी का शिला सेख ई० पू० २०० का
प्रतीत होता है । उसमें और १०० वर्ष ई० पू० के नानाघाट गुफा
के शिला-लेख में संकर्षण-वासुदेव का साथ-साथ उल्लेख है ।

इसी काल में लगभग ई० पू० २०० वर्ष में घेसनगर का
गदइस्तम्भ हेलियोपोलिस ने सर्वेश्वर बसुदेव के लिये स्थापित

किया था । इसमें वह अपने को भागवत नाम का अनुयायी बताता है । इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी-युग से प्रचलित सात्वत नाम ई० पू० की पहली-दूसरी सताब्दी तक मकी प्रकार लोक प्रिय हो गया था और इसका अर्थ सात्वत न बहकर समस्त भागवत कहा जाने लगा था । समस्त भागवत शब्द का प्रयोग साहित्य में सबसे पहले चर्चों के लिए हुआ है । पातञ्जलि ने महाभाष्य में शिव भागवत का वर्णन किया है । शिव-भागवत से यह भागवत शब्द विष्णु को मिला होगा ऐसी सम्भावना विद्यमान होती है । अथर्वशिरस उपनिषद् में और देवता-इतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र शिव को 'भागवत' कहा गया है । और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं, यद्यपि वाप में यह उत्प्रेक्ष्य अवश्य मिलेगा कि 'भागवत' सर्वोच्च सभी देवताओं के लिए आ सकता है । नारायण, सात्वत और चैत्यों के संगम से नारायण हरि, वासुदेव भागवत सभी पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रेत था 'विष्णु' । किन्तु वासुदेव-सकलपण का ब्युह तो मानव-समूह का ब्युह था जो नारायण हरि विष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं बल्कि मनुष्यों की भाँति क्षीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से युक्त थे । यह भी विदित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के दृष्ट से ये उनके कुल के वीर थे ।

इस प्रकार भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राच्य हो जाता है । ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं । इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारत-तर प्रदेशों से आगे । किन्तु यह दोषों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय हैं और सम्भवतः आदि आर्य हैं । इनका नाम सामील भाषा का आभीर है जिसमें आ का अर्थ गाय है । आभीर अथवा अहीर तामिल शब्द आभीर में गोप-स्वातों का पर्याय है । अहीर को राज में खाला भी कहा जाता है । ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे । कृष्ण इनका नेता था । वेदों में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अश्व मती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था । डा० डी० आर० मंडारकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है । (डी० आर० मंडारकर समय अस्पष्ट आर्य एण्ड ईण्डियन क्लब) इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का धनिष्ठ सम्बन्ध है ।

आभीरों के प्रावस्य के समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ-विधान के श्रैयस्य के समय, उस व्यवस्था के विरोधी मत उभरत हुए, और क्योंकि उनकी भूमि प्रायः समान थी अतः वे परस्पर मिल गये । इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये ।

वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये । अब कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया । इस विकास में गोपियों का वह आप्रहृ भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदामन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना इष्ट मानने का हठ करती हैं और वे भयुरा नहीं आती हैं न वासुदेव, देवकी-पुत्र^१ वासुदेव में ही खड़ा दिखाती हैं । उद्यम से यही प्रार्थना करती हैं—‘बारक वह मुख फेरि विखावहु दुहि पय पिअत पसूखी’ हरिबन्ध में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ऋचाओं का यज्ञ करते हैं, इपक हल का यज्ञ करते हैं हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे । हमें वन और गिरि की पूजा करनी चाहिये । हमें गायों की पूजा करनी चाहिये । भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे । मैं तो वसन्त भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊंगा । गाय पर्वत वन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थीं । इनका संवन्ध वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है उस कृष्ण से जो मधुमती के किनारे इन्द्र के बिछड़ सेनायों लेकर सड़ा हुआ था, वही वासुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त अमत्कारों से मुक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषतः विरोधी इन्द्र में इसी सोचमनोविज्ञान ने कृष्ण का जो चरित्र विस्तृत किया उसने वस्तुतः उसमें इन्द्र के सभी अमत्कार सम्मिलित कर लिये । ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कौतुकों का उत्सव एक ही मंत्र ‘सजमास इन्द्र’ में अत्यन्त विशदता पूर्वक हुआ है । उसमें कृष्ण की प्रायः समस्त सीमाओं का बीज विद्यमान है ।

१ देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख कहीं भी है । इन्हें कई विद्वान् मायवत के कृष्ण ही मानते हैं पर बहुत से अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं ।

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें वर्तमान कृष्ण-परिण के प्रायः सभी अविग्राम मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र के कवि ने वही धोखपूर्ण वाणी में दृढ़तापूर्वक बताया है कि 'स जनास इन्द्र है मनुष्य! वही इन्द्र है! इस मंत्र में इन्द्र के सहस्रकार्यों का कवि ने उल्लेख किया है।

१ म जात एव प्रथम मनस्वान् देव वेदान् ऋतुना परिऽबभूवत् ।
कृष्ण को जन्म से ही परम बड़ा स्वीकार करने की शक्ति हो सकेत। समस्त देवताओं में अधिक शक्तिशाली और कौन हो सकता है?

यस्य शुष्मात् रोदसीइति ।

अभ्यसेताम् नृम्यम्य मद्भा ।

स जनास इन्द्र ।

कुछ पुराणों से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं यथा —

कंस=कंस—(सत्येनमाभिरक्ष त्वं ब्रह्मेत्यभिधाप्य कंस=याज्ञ
वत्य) तथा कंस=कंस पात्र [A drinking vessel वाटे]
अरुपात्र=पृथ्वी ।

फिर

'स का पृथक अर्थ भी होता है — साप

क+स=कंस का सर्प=अहिबुध । वायु भी अर्थ होता है ।

कंस+म=कंस+वायु=वायु पृथ्वी

यत रोदसी अथवा कंस जिससे अभिहित हुआ जन्म के समय ही । रोदसी शब्द में दो अर्थ हैं । पृथ्वी और आकाश । कंस और स (कंस) में भी दो भाव हैं ।

आभीरों के प्राबल्य के समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ विधान के शीघ्रिय के समय उस व्यवस्था के विरोधी मत उत्पन्न हुए, और क्योंकि उनकी भूमि प्रायः समान थी अतः वे परस्पर मिल गये । इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये ।

वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये । अब कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया । इस विकास में गोपियों का वह आग्रह भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदानन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना दृष्ट मानने का हठ करती हैं और वे मचुरा नहीं जाती हैं, न वासुदेव देवकी-पुत्र^१ वासुदेव में ही खड़ा दिखाती हैं । उदाहरण से यही प्रार्थना करती हैं—'बारक वह मुख फेरि लिखावहु कुहि पम पिबत पसुखी' हरिवंश में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ऋचाओं का यज्ञ करते हैं, कृपक हल का यज्ञ करते हैं हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे । हमें बन और गिरि की पूजा करनी चाहिये । हमें गायों की पूजा करनी चाहिये । भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे । मैं तो ब्रह्मात् भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊंगा । गाय, पर्वत, बन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थीं । इनका सम्बन्ध वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है उस कृष्ण से जो अशुमती के किनारे इन्द्र के विरुद्ध सेनायें लेकर लड़ा हुआ था, वही वासुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त भक्तियों से मुक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषतः विरोधी इन्द्र में इसी लोभमनोविज्ञान ने कृष्ण का जो अग्नि बिस्तृत किया उसने वस्तुतः उसमें इन्द्र के सभी भक्तकार सम्मिलित कर लिये । ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कौसुकों का उल्लेख एक ही मंत्र 'सजनास ईद' में अत्यन्त विस्तृता पूर्वक हुआ है । उसमें कृष्ण की प्रायः समस्त भीलायों का बीज विद्यमान है ।

^१ देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख वेदों में है । इन्हीं कई विद्वान् मान्यता के कृष्ण ही मानते हैं पर बहुत से अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं ।

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें बलवान् कृष्ण चरित्र के प्रायः सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र के कवि ने बड़ी धोजपूर्ण वाणी में दुइठापूर्वक बताया है कि 'स जनास इन्द्र हे मनुष्य! वही इन्द्र है। इस मंत्र में इन्द्र के महत्कार्यों का कवि ने उत्तरेष्ट किया है।

१. य जात एव प्रथमः मनस्वान् देव देवान् कतुना परिऽअमूयत ।
कृष्ण को जन्म से ही परम बड़ा स्वीकार करने की ओर संकेत । समस्त देवताओं में अधिक शक्तिशाली और कीन हो सकता है?

यस्य क्षुप्मात् रोदसीइति ।

अम्यसेताम् मृष्यस्य मङ्गा ।

स जनास इन्द्र ।

कुछ दूरान्वय से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं यथा —

कंस=जल—(सत्येनमानिरस त्वं वरुणेत्पमिसाप्य कंसान्न-
वन्वय) तथा कंस=जल पात्र [A drinking vessel-आटे]
जलपात्र=पृथ्वी ।

फिर

'स' का पूरक अर्थ भी होता है—सर्व

क+स=जल का सर्व=वहिवृत्त । वायु भी अर्थ होता है ।

क+स=जल+वायु=वायु पृथ्वी

यत रोदसी अथवा कंस जिससे भयभीत हुआ जन्म के समय ही । रोदसी शब्द में वा अर्थ है । पृथ्वी और आकाश । कंस और स (जस) में भी दो भाग हैं ।

आभीरों के प्राबल्य के समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ विधान के शीघ्रित्य के समय उस व्यवस्था के विरोधी मत उत्पन्न हुए, और क्योंकि उनकी भूमि प्रायः समान थी अतः वे परस्पर मिल गये। इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये।

वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये। अन्न कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया। इस विकास में गोपियों का बहु आग्रह भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदानन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना दृष्ट मानने का हठ करती हैं और वे मयूरा नहीं जाती हैं न वासुदेव, देवकी-पुत्र^१ वासुदेव में ही थड़ा दिखाती हैं। उद्यम से यही प्रार्थना करती हैं—मारक वह मूस फेरि दिखावहु दुहि पय पिअत पसूली^२ हरिवंश में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ऋषियों का यज्ञ करते हैं, कृषक हल वा यज्ञ करते हैं हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे। हमें बन और गिरि की पूजा करनी चाहिये। हमें गायों की पूजा करनी चाहिये। भले ही देवता इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे। मैं तो बछाड़ भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊंगा। गाय पर्वत बन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थीं। इनका समर्थ वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है उस कृष्ण से जो अशुमती के किनारे इन्द्र के विरुद्ध सेनायें लेकर बड़ा हुंमा था, वही वासुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त अमत्कारों से युक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषतः विरोधी इन्द्र में इसी लोभमनायिज्ञान ने कृष्ण का जो अरिष बिस्तृत किया उसने बस्तुतः उसमें इन्द्र के सभी अमत्कार सम्मिश्रित कर लिये। ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कीतुकों का उल्लेख एक ही मंत्र 'सजनास ईद' में अत्यन्त बिशदता पूर्वक हुआ है। उसमें कृष्ण की प्रायः समस्त सीमाओं का बीज बिद्यमान है।

^१ देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख कर्तों में है। इन्हें कई विद्वान् भागवत के कृष्ण मानते हैं। पर बहुत से अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं।

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें वर्तमान कृष्ण-चरित्र के प्रायः सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र के कवि ने बड़ी शोचपूर्ण वाणी में दुःखतापूर्वक बताया है कि 'स जनास इन्द्र हे मनुष्य! वही इन्द्र है'। इस मंत्र में इन्द्र के महत्कार्यों का कवि ने उत्तेजित किया है।

१ य जात एव प्रथम मनस्वान् देव देवान् क्रतुना परिष्ठममूषत ।
कृष्ण को जन्म से ही परम ब्रह्म स्वीकार करने की ओर
संकेत । समस्त देवताओं में अधिक शक्तिशाली और कौन
हो सकता है?

यस्य शुष्मात् रोदसीदिति ।

अभ्यसेताम् नृम्यस्य मत्ता ।

स जनास इन्द्र ।

कुछ दूरान्वय से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं यथा —

क=जल—(सत्येनमानिरस त्वं बह्नेत्यभिशाप्य कं—याज्ञ
वस्क्य) तथा कंस=जल पात्र [A drinking vessel-बाटे]
जलपात्र=पृथ्वी ।

फिर

'सं' का पृथक् अर्थ भी होता है—सर्प

कं+स=जल का सर्प=अहिवृत्र । वायु भी अर्थ होता है

कं+स=जल+वायु=वायु पृथ्वी

अतः रोदसी अथवा कंस जिससे भयभीत हुआ जन्म
समय ही । रोदसी शब्द में दो अर्थ हैं । पृथ्वी और आकाश ।
और सं (कंस) में भी दो भाव हैं ।

- २ य पृथिवीम् व्ययमानाम् अदृ हत्
जिसने व्ययमान दुःखी, पृथ्वी को दूढ़ किया, कैसे ?
य पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात् ।
जिसने (अरम्णात्) कीड़ा की (पर्वतान्) पर्वतों से
जो (प्रकुपितान्) हिंसे हुए थे, चबल थे ।
और

य अन्तरिक्षम् विष्ममे वरीय

जिसने पर्वत को (अन्तरिक्ष) आकाश में पृथ्वी से ऊपर
(विममे वरीय) उठा लिया और य घाम् अस्तम्नात्—जिसने
इस प्रकार उस पर्वत पर (घाम्) आकाश के जल को रोका
(अस्तम्नात्)

इस प्रकार अर्थ करने से इसमें गोबर्द्धन-धारण की घटना
लक्षित होती है ।

३ य हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून्—जिसने सर्प को
मारकर (सप्त) सप्तगङ्गा नदी को प्रेरित किया मुक्त किया ।
कान्धिन्याग से यमुना के मुक्त करने की ओर संकेत मिल सकता
है ।

य ना उत्प्राजत् अपञ्चावलस्य—जिसने बल की गुहा में से
गायों को निकाला । अञ्चासुर नाम का एक असुर अजगर बनकर
गायों को निगल गया था । कृष्ण भी साब गये और उनका उद्धार
किया ।

य अदमनो अन्त अग्निम् अजान—दो पक्षों से जिसने
अग्नि पैदा की ।

सञ्जक समत्पु स जनास इन्द्र—जो सग्राम में नाश करने
वाला है । सांडव बाहु क लिए हो सकता है यह संकेत ।

४ येन इमा विदवा व्यवना वृतानि—जब चेतन का वर्त्ता भी
है कृष्ण

य दासम् वर्णम् अवरम् गुहा अकरिष्यक—सामुझों अथवा
असुरों को आधीन करमे वाला । बाव—The words दास and
वस्यु are used in the Rigveda of all the enemies of the
Aryans, whether demons or men

(देसिए पीटर पीटरसन हिम्स फ्राम दी ऋग्वेद पृ ११७)
एवम्पीड इवय विगाणान् रुद्रम्—सायण ने बताया है कि 'दवमिर्मु'

गान् हुन्तीति स्वप्नी व्याध । यथा व्याधो जिभुसन्त मुगं परि-
ग्रहणाति तद्वत्—व्याध जिस प्रकार अपने लक्ष्य का वध करता है
उसी प्रकार असुरों का वध किया । कृष्ण ने तुणावर्त धेनुक केशिम
मादि का वध किया था । और इसी प्रकार—

मादत् अयं पुष्टानि—राक्षसों की सपत्ति को (कृष्ण ने कस
का राज्य) प्राप्त किया ।

५ यम् स्म पृच्छन्ति कुह स इति धोरम् उत ईम् आहु न एष
अस्ति इति एनम्—कि वह कौन है, गोपियों ने पूछा जिसके सम्बन्ध
में पूछा जाता है ।

‘निर्गुन कौन देव कौ वासी’ और जिस के सम्बन्ध में
कहा जाता है ‘वही नहीं है । उदव ने कहा वह निराकार है ।

स अयं पुष्टी विज—इव आमिनाति अत् अस्मै घत्त—
राक्षसों की सपत्ति का जो नाश करता है उसमें अज्ञा करो ।

य रघस्य चोदिता—‘रघस्य चादिता’ इन्द्र का बहुत प्रिय नाम
है इसीलिए इन्द्र राधानांषति भी कहा गया है । रघ ही राधा है
समुद्रि की प्रेरक और उसको प्रेरित करता है इन्द्र । यह रघ कृष्ण
की राधा हो गयी है । सायण में तो एक स्थान पर रघ का यह
अर्थ भी दिया है ‘रघमारोपक यजमानम्’ ।

य कृषस्य य ब्रह्मण नाधमानस्य कीरे दुर्बलों और
ब्राह्मणों का रक्षक ।

७ वे में इन्द्र को गायो वा, ग्रामो का अनुशासक बताया है ।
उसे ‘अपाम् नेता’ कहा गया है । इसमें बल में से कमल छाने
बासे का उत्सेह हो सकता है । गायों और ग्रामों से उसका ‘गोप’
होना सिद्ध है ।

८ वे में यह बताया गया है कि युद्ध में प्रवृत्त दोनों पक्ष जिससे
सहायता की याचना करते हैं । क्या इसमें अबुन और दुर्योधन
दोनों का साथ-साथ युद्ध के लिए सहायतार्थ प्रार्थना करने जाने का
बीज नहीं है ।

९ वे में ‘यत्र कृष्णस्ततो जय का भाव है । यस्मात् न अस्ते
विज्यन्ते जनास । यही नहीं इसमें ‘य विरवस्य प्रतिज्मानम्’ कह-
कर कृष्ण के विस्वरूप (विषाट् रूप) का संकेत निहित कर दिया है ।

इस एक श्लोका से ही कृष्णऐसा आभास मिलता है कि यह इन्द्र
का वर्णन नहीं कृष्ण का वर्णन है । इन्द्र विषयक अन्य श्लोकों

- २ य पृथिवीम् व्यथमानाम् अदृ हत्
जिसने व्यथमान, दुःखी, पृथ्वी को दृढ़ किया, कैसे ?
य पर्वतान् प्रऋपिताम् अरम्णात् ।
जिसने (अरम्णात्) क्रीड़ा की (पर्वतान्) पर्वतों से
जो (प्रऋपितान्) हिसे हुए थे, चपक, थे ।

धौर

य अन्तरिक्षम् विऽम्रे वरीय

जिसने पर्वत को (अन्तरिक्ष) आकाश में पृथ्वी से ऊपर
(विम्रे वरीय) उठा लिया और य धाम् अस्तम्नात्—जिसने
इस प्रकार उस पर्वत पर (धाम्) आकाश के जल को रोका
(अस्तम्नात्)

इस प्रकार अर्थ करने से इसमें गोवर्द्धन धारण की घटना
संक्षिप्त होती है ।

३ य हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून्—जिसने सर्प को
मारकर (सप्त) सर्पगणशील नदी को प्रेरित किया मुक्त किया ।
कालियनाग से यमुना के मुक्त करने की धौर संकेत मिल सकता
है ।

य गा उत्ऽआजत् अपऽआबलस्य—जिसने बल की गुहा में से
गायों को निकाला । अघासुर नाम का एक असुर अजगर धनकर
गायों को निगल गया था । कृष्ण भी साथ गये और उनका उद्धार
किया ।

य अश्मनौ अस्त अग्निम् अजान—जो पत्थरों से जिसने
अग्नि पचा की ।

संऽभूक समत्ऽभु स जनास इन्द्र—जो संग्राम में नाश करने
वाला है । साहब दाह के लिए हो सकता है यह संकेत ।

४ येन इमा विष्वा व्यबना वृतानि—जब चेतन का कर्ता भी
है कृष्ण

य दासम् धर्मम् अधरम् गुहा अवरित्यक—क्षत्रियों अथवा
असुरों को आधीन करने वाला । दास—The words दास and
धसु are used in the Rigveda of all the enemies of the
Aryans whether demons or men

(देखिए पीटर पीटरसन हिम्स फ्रॉम दी ऋग्वेद पृ ११७)
दशप्ती इवय जिगीवान् रुक्षम्—सायण ने बताया है कि दशभिर्म

गान् हन्तीति दक्षिणी व्याध । यथा व्याधो जिघृक्षन्त मृगं परि-
ग्रहणाति तद्वत्—व्याध जिस प्रकार अपने रुख का बंध करता है
उसी प्रकार असुरों का बंध किया । कृष्ण ने तुणावर्त, धनुक केसिन
आदि का बंध किया था । और इसी प्रकार—

आवत् अयं पुष्टानि—शत्रुओं की सपत्ति को (कृष्ण ने कस
का राज्य) प्राप्त किया ।

१ यम् स्म पृच्छन्ति कुह स इति घोरम् उत ईम् आहु न एष
अस्ति इति एनम्—कि वह कौन है, गोपियों ने पूछा, जिसके सम्बन्ध
में पूछा जाता है ।

‘निर्गुन कौन देश की बासी’ और जिस के सम्बन्ध में
कहा जाता है ‘वही नहीं है’ । उद्यम ने कहा वह निराकार है ।

स अयं पुष्टी विष्—इव आभिनाति अत् अस्म घत्—
शत्रुओं की सपत्ति का जो नाश करता है उसमें श्रद्धा करो ।

य रघस्य बोदिता—‘रघस्य बोदिता’ इन्द्र का बहुत प्रिय नाम
है इसीलिए इन्द्र राधानाथि भी कहा गया है । रघ ही राधा है
समुद्र की प्रेरक, और उसको प्रेरित करता है इन्द्र । यह रघ कृष्ण
की राधा हो गयी है । सायण में तो एक स्थान पर रघ का यह
अर्थ भी दिया है ‘रघमाराधक यजमानम्’ ।

य कसस्य य ब्रह्मण नाधमानस्य कीरे दुर्बलों और
ब्राह्मणों का रक्षक ।

७ वे में इन्द्र को गायों का, ग्रामों का अनुदासक बताया है ।
उसे ‘अपाम् नेता’ कहा गया है । इसमें जल में से कमल साने
वाले का उत्प्रेषण हो सकता है । गायो और ग्रामों से उसका ‘योप’
होना सिद्ध है ।

८ वे में यह बताया गया है कि युद्ध में प्रवृत्त दोनों पक्ष जिसका
सहायता की याचना करते हैं । क्या इसमें अर्जुन और दुर्योधन
दोनों का साथ-साथ युद्ध के लिए सहायता प्रार्थना करने जाने का
बीज नहीं है ।

९ वे में ‘यत्र कृष्णस्ततो जय का भाव है । यस्मान् न श्रुते
विजयस्ते जनाः । यही नहीं इसमें ‘य विश्वस्य प्रतिज्ञान्’ कह-
कर कृष्ण के विश्वरूप (विराटरूप) का सफेद निहित रूप दिया है ।

इस एक श्रुति से ही कुछ ऐसा आभास मिलता है कि यह इन्द्र
का वर्णन नहीं कृष्ण का वर्णन है । इन्द्र विजयक अन्य श्रुतियों

से भी ऐसी छवि मिलती है ।

उदाहरणार्थ ऋग्वेद के चौथे मण्डल का १८ वाँ मन्त्र भीजिये । इसके सम्बन्ध में W Norman Brown (Philadelphia) का कथन है ।

"The fullest account of Indra's early days, as recorded in any single hymn of the R̥gveda appears in VI. 18 J A O S 62, 93-95, this material with certain other material found elsewhere in the R̥gveda is utilised in an effort to reconstruct the general outline of the story of Indra's birth and infancy" (छिन्दा-मार्ग pp. 131)

ऋग्वेद के उक्त मन्त्र के प्रथम दो श्लोक से ही विदित होता है कि इन्द्र की माँ इन्द्र के उत्पन्न होते समय उसकी स्तुति कर रही है । यह जानती है कि इन्द्र वेब है । साथही यह उससे यह भी प्रार्थना करती है कि अपनी माँ को ऐसे नारकीय स्थान में न पड़े रहने दे—

अमं पन्था अनुविश पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे
अतश्चिपु मा अग्निपीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पतये क-

इस श्लोक से विदित होता है कि कृष्ण की माँ देवकी कृष्ण के जन्म पर उनके भगवान् विष्णु रूप में दर्शन देने के समय उनसे प्रार्थना कर रही है—आप महान् हैं, प्राचीन परम्परा के अनुसार (अवायदाहि भर्मस्य) आप अवतार से रहें हैं, आप अवतार में । मैं यहाँ नारकीय स्थान में पड़ी हूँ । आप यहाँ न रहें । किन्तु समय पर इस नारकीय स्थान से मेरा उद्धार करें—

[Indra's mother speaks] This is the ancient accustomed path, by which the gods were all born upward. Thence let this Mighty one be born [upward] Let him not make his mother fall down there [in Hell]

उक्त अनुवादक ने 'अमुया' शब्द पर यह टिप्पणी की है—

"Amuya" in the RV regularly means "there is an evil scene: it is used of the place where the dead Vritra lie (I. 328) where demons lie (X. 89-14) where

go (1.29 ; X 85,30 probably also X1352. where Indra is to strike down the wicked (V 34. 5) here too it means 'That (awful) Place of VII 104. 17 implied in III 53 21

इसके स्पष्ट अर्थ हैं कि इन्द्र की माँ वृत्र अथवा दानवों की बन्दिनी है । वह वहाँ से छिपकर किसी अमरत्वर से इन्द्र को जान देने बाहर आयी है । अब इन्द्र को वहीं त्याग कर वह विवशता के कारण 'अमृता' उसी मारकीय स्थान को भौट रही है इन्द्र को वह देव समझती है और आधा करती है कि वह उसका उद्धार करेगा—

इस श्लोक से इन्द्र और कृष्ण का सादात्म्य और भी अधिक पुष्ट हो जाता है । दूसरे श्लोक में है—

नाहमतो निरया पुर्गहवत् तिरस्वता पाण्वाभिर्गमाणि
बहुनि मे अकृता कर्त्तव्यानि युध्यं स्वेन स स्वेन पूज्यैः ।

इस श्लोक में जैसे इन्द्र अथवा कृष्ण अपने मन में विचार कर रहे हैं कि—न अभी सक्तों का सामना नहीं करना चाहिए । अर्थात् वृत्र को मारने का अभी उद्योग नहीं होना चाहिए । अभी तो मुझे बहुत से ऐसे काम करने हैं जो पहले नहीं हुए हैं तब युद्ध भी करना है और पूछताछ भी—

स्पष्ट है कि कृष्ण उन भीमाओं की कल्पना कर रहे हैं जो कंस को मारने से पूर्व उन्हें करनी हैं ।

परायती मातरमन्ववष्ट न नानु गान्धनु नू गमिमानि

त्वष्टगृहे अपिवत् सोममिन्द्र सतजन्य चम्बो सुतस्य

He saw his mother leaving him. No no I shall follow her. I must surely go with her ! In Tvast's house Indra drank Soma a hee-marred-worth of the pressed juice from the bowls

इसमें गायों को बराने और त्वष्ट के घर सोम पीने का उल्लेख है । त्वष्ट मन्द है सोम मन्त्रन ह । यहीं पर सोम के सम्बन्ध में जो टिप्पणी दी है वह ध्यान देने योग्य है—

"In other passages Indra steals the soma after overcoming Tvast (III.48.4 of I. 61 7) who seems to be the Mighty Father (but not Indra's father) cf. III 48.2.

or he has to slay Vshvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X 8 8-9 II, 11 15)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है जो कृष्ण की मातृम चोरी सीला का बीज है । कृष्ण के गाय कराने का भी ।

किस ऋषक कृणवद् सहाय य मासो जमार धरवश्च पूर्वी नही न्वस्य प्रतिमान मस्यस्तर्जतिपुत्र ये अनित्वा
 Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns ? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के बल का उल्लेख है ।
 अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्त्री माता वीर्येणा न्युष्टम्
 अधोदत्त्वात् स्वयमत्कं वसानं आ रोदसी अपुणाज्जायमान
 कृष्ण के वरुण की ओर संकेत है यावा पृथ्वी को जन्म के समय कपित करने की ओर संकेत है । कृष्ण के (नवमूह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीरवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है । कस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है ।

आगे के मंत्रों में किसी 'कुशाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उल्लेख है ? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था । ऋग्वेद के इस मंत्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है ।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े । भले ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-सौमित्र के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए । इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिणत होकर इन्द्र का विरोध करने लगे । इस प्रकार अवैदिक प्रवृत्ति न वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया । इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है ।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है । A A Macdonell ने इसका कारण निम्नलिखित करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people.

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods, such as brilliance, power, beneficence, and wisdom. Such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aërial god of the thunder storm slays them with lightning. Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs. These combinations result in attributes peculiar to the one god attaching themselves to the other even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vjra-slayer winner of cows and waters, sun and dawn attributes all primarily belonging to Indra' (Vedic Mythology, pp 15 16)

अतः इसी क्रम से इन्द्र के गुण बिष्णु में पहले उपेन्द्र मात्र से फिर पूर्णतः आरोपित हुए । जब यज्ञमात्र से बिष्णु का पलड़ा भारी हुआ तो फिर बिष्णु में स्वतः ही समस्त इन्द्र समा गया । वही बिष्णु कृष्ण में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराक्रम की घटनाएँ उसी के अनुकूल उतरेंगी । बृहदेवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है ।

रसावान तु कर्मस्य वृत्रस्य च निवर्हणम् ।

स्तुते प्रभुत्वं तस्य बलस्य निमित्ता इति (॥ ६)

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X 8 8-9 II, 11, 15)—

इसमें सोम की चोरी का उत्सेह भी है, और कृष्ण की मासल चोरी सीला का बीज है । कृष्ण के गाय बनाने का भी ।

किस अधक कृष्णवत् सहाय य मासो जभार धरवस्क पूर्वी
नही न्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तजतिपूत ये जमित्वा

Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns ? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के बल का उत्सेह है ।

अबधमिव मन्यमाना गृहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यूष्टम्
अयोदस्थात् स्वयमत्क वसानं वा रोवसी अपुणाम्भायमान

कृष्ण के बल की ओर संकेत है यावा पृथ्वी को जन्म के समय कपित करने की ओर संकेत है । कृष्ण के (नंदगृह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है । कस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है ।

आगे के मंत्रों में किसी 'कुधाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उत्सेह है ? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था । ऋग्वेद के इस मंत्र की सार्थी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है ।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े । भले ही वे विष्णु उपेक्ष बने रहे पर यज्ञ-वीर्यत्व के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए । इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिणत होकर इन्द्र का विरोध करने लगे । इस प्रकार अबेदिक प्रवृत्ति न वैदिक प्रवृत्ति को अपन में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया । इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है ।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है । A A Macdonell ने

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods such as brilliance, power, beneficence, and wisdom such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aërial god of the thunder storm slays them with lightning. Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs. These combinations result in attributes peculiar to the one god attaching themselves to the other even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vritra-slayer winner of cows and waters sun and dawn attributes all primarily belonging to Indra" (Vedic Mythology pp 15 16)

अतः इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु में पहले उपेन्द्र भाव से फिर पूर्णतः आरोपित हुए । जब यज्ञभाव से विष्णु का परुषा भारो हुआ तो फिर विष्णु में स्वतः ही समस्त इन्द्र समा गया । वही विष्णु इष्ट में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराक्रम की घटनाएँ उसी के अनुकूल उतरेंगी । बृहदेवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है ।

रसावानं तु धर्मस्य वृत्रस्य च निवर्हणम् ।

स्तुतं प्रभुत्वं नर्वस्य बलस्ये निजिज्ञा इति (॥ ६)

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X 8 8-9 II, 11 15) —

इसमें सोम की थोरी का उत्सेस भी है जो कृष्ण की मासम थोरी सीला का बीज है। कृष्ण के गाय धराने का जी।
 किस ऋधक कृणवत् सहायं यं मासो जमार शरवत्क पूर्वी
 नहीं न्वत्स्य प्रतिमान मस्त्यन्तर्जतिपुत ये जमित्वा
 Could he now put away conquer [his enemies] he
 whom she bore (as embryo) a thousand months and
 many autumns? No match has he among those already
 or yet to be born.

इसमें कृष्ण के बल का उत्सेस है।
 अवद्यमिष मन्यमाना गृहाकरिन्द्र माता वीर्येया न्युष्टम्
 अपोदत्पात् स्वयमत्क वसान आ रोदसी अपुणाज्जायमान
 कृष्ण के धरण की ओर संकेत है याबा पुष्पी को जम के
 समय कपित करने की ओर संकेत है। कृष्ण के (मदगृह में)
 छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न
 छिप सकने की ओर भी संकेत है। कंस ने पता लगा ही लिया था
 कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है।
 आये के मंत्रों में किसी 'कृशाब' द्वारा निगल लिये जाने का
 भी उत्सेस है? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था।
 ऋग्वेद के इस मंत्र की सलाही हमारे प्रस्तुत विषय के लिए
 महत्वपूर्ण है।

पहले तो यज्ञ के आधार पर बिष्णु से इन्द्र पिछड़े। नसे ही
 वे बिष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-धीनिय के संपरीत बिष्णु जब
 कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ
 इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए। इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परि
 वर्तित होकर इन्द्र का विरोध करने लगे। इस प्रकार अवैदिक
 प्रवृत्ति ने वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे
 परास्त कर दिया। इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें
 वेद में मिलता ही है।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की
 प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है। A. A. Macdonell ने
 इसका कारण निरूपण करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people.

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods such as brilliance, power, beneficence and wisdom. Such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments, but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aerial god of the thunder storm slays them with lightning. Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs. These combinations result in attributes peculiar to the one god attaching themselves to the other even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vritra-slayer winner of cows and waters sun and dawn attributes all primarily belonging to Indra" (Vedic Mythology pp. 15 16)

अतः इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु में पहले उपेन्द्र भाव से फिर पुनश्च आरोपित हुए । जब यज्ञ भाव से विष्णु का पन्द्रा भारी हुआ तो फिर विष्णु में स्वतः ही समस्त इन्द्र समा गया । यही विष्णु कृष्ण में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराजय की घटनाएँ उसी के अमृकूप उतरेंगी । बृहदेवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है ।

रसादान तु र्वस्य ब्रह्मस्य च निबर्हणम् ।

स्तुते प्रमृत्वा र्वस्य ब्रह्मस्य निनिर्वा इति (॥ ५)

or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X.8 8-9 II. 11 13)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है, और कृष्ण की मासुन चोरी लीला का बीज है । कृष्ण के गाय बराने का भी ।

किंस्व ऋषक कृष्णवद् सहायं यं मासो जमार शरदस्क पूर्वी
नही न्वस्य प्रतिमान मत्स्यन्तर्जतिपूत ये जगित्वा

Could he now put away conquer [his enemies] he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns ? No match has he among those already or yet to be born.

इसमें कृष्ण के बल का उल्लेख है ।

अवद्यमिन्न मन्यमाना गुहाकरिन्त्री माता वीर्येणा न्युष्टम्
अयोदस्थात् स्वयमत्क वसान आ रोदसी अपुष्पाब्जायमान-

कृष्ण के वरुण की ओर संकेत है चाचा पुष्पी को जन्म के समय कपित करने की ओर संकेत है । कृष्ण के (नदमूह में) छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है । कस ने पता लगा ही लिया था कि बासक रूप में कृष्ण कहाँ है ।

आगे के मंत्रों में किसी 'कुसाव' द्वारा निगल सिंदे जाने का भी उल्लेख है ? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था । ऋग्वेद के इस मंत्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है ।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े । भसे ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-वीर्यस्य के उपरांत विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के भाव के साथ इन्द्र के समस्त गुण प्रस्तुत हुए । इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिणत होकर इन्द्र का विरोध करने लगे । इस प्रकार अबैदिक प्रवृत्ति न वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया । इन्द्र विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है ।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है । A. A. Macdonell ने इसका कारण निरूपण करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterise the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are nearer to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-European people.

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods, such as brilliance, power, beneficence, and wisdom. Such common features tend to obscure what is essential because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominence. Again, gods belonging to different departments but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, purifier of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aerial god of the thunder-storm slays them with lightning. Into the character of fire-god further enters his aspect as lightning in the atmosphere. The assimilation is increased by the gods often being invoked in pairs. These circumstances result in attributes peculiar to the one god being ascribed to the other even when the latter is invoked alone. Thus Agni comes to be called *Varuṇa-slayer*, winner of cows and horses, for these attributes all primarily belonging to Indra. (The Vedic Theology pp 15 16)

अतः इसी क्रम से इन्द्र के गुण बिन्दु में उनके देवता चरित्रों के लिए पूर्णतः आरोपित हुए । जब इन्द्र के देवता चरित्रों में भारी हुआ तो फिर बिन्दु में उनके देवता चरित्रों के लिए वही बिन्दु इन्द्र में अबतक हुआ । इन्द्र के देवता चरित्रों के घटनाएँ उसी के अनुसार चलीं । अतः इन्द्र के देवता चरित्रों के परिमाण यह ही यथा है ।

रमादात तु इन्द्र के देवता चरित्रों के लिए ।

सुत प्रमत्त गन्त इन्द्र के देवता चरित्रों के लिए ।

"Now the taking up of moisture is his function, and the destruction of Vritra (and)—the preavalling feature (prabhutvam) of (his) praise—the complete accomplishment of every (kind of) mighty deed."

इसमें कृष्ण के प्रमुख गुण लक्षित होते हैं। इसी गुण-आरोप के आधार को बृहदेकता ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है—

"भवद्भूतस्य भव्यस्य षड्भूमत्याकरस्य च ।

अस्यैके सूर्ययैवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः (१९१)

अग्निरस्मिन्नवन्तु मध्यतोवायु रेव च ।

सूर्यो विर्जीत विज्ञेयास तिस्र एवेह देवता । (१९६)

जो पृथ्वी पर अग्नि है अन्तरिक्ष में इन्द्र वायु वह दिव-लोक में सूर्य है। इस प्रकार एक का दूसरे में समन्वय हुआ।

लोकवार्ता के मध्यम से ऐसा हो जाना असम्भव नहीं। परशुराम और राम विष्णु के अवतार हैं। परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हैं। कृष्ण स्वयं विष्णु का अवतार हैं। वे उपेन्द्र होकर कृष्णावतार में इन्द्र का विरोध करते हैं। अनून इन्द्र पुत्र हैं। कृष्ण के साथ वह भी व्यापक दाह के मिस इन्द्र का विरोध करते मिलते हैं। इसी प्रकार इन्द्र का ही एक विकास कृष्ण में प्रस्तुत हुआ। ऐसे कृष्ण से भागवत हरि बासुदेव भगवान् भिन्नकर वैष्णव संप्रदाय की परम्परा को मूलतः मूर्ति पर से आया। इसे भागवत ने परिपूर्णता प्रदान की और वल्लभाचार्यजी ने उसे १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में लोक-भक्ति का दृष्टि बना दिया और अवतारों की परम्परा की व्यवस्था करते हुए स्वयं कृष्ण हो गये।*

*कल्लमाचार्यजी महाप्रभु ही नहीं वे आचार्य बाबा गुरु परत से। तदुपास के स्वयं कृष्ण माने गये या हुए। गुरु का और इन्द्रदेव का वह समेद थे अस्मिन् ही मन्त्रा का ही अन्वय है। शर संप्रदाय में जो गुरु के नाम से भी शिव सम्मिश्रित हैं। वना, लज्ज संप्रदाय के शिव लज्जगीरा हैं। लज्ज गुरु हैं। वे स्वयं शिव का अवतार माने जाते हैं। वे स्वयं शिव ही माने हैं। इन तीनों के वह दृष्टि हो जाता है कि महाप्रभु कल्लमाचार्य के स्वयं दृष्टि ही रहे।

वल्लभाचार्यजी

लक्ष्मण भट्टजी को यज्ञशाला में रात्रि के चतुर्थ प्रहर स्वप्न में भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम ने ब्राह्मण वेष्ट में प्रकट होकर बताया "मैं पूर्ण पुरुषोत्तम वल्लभानर स्वरूप हूँ । लोक कल्याणार्थ स्वेच्छा से तुम्हारे पुत्र रूप में अवतार लेने के कारण मेरे अलौकिक चमत्कार के विषय में तुम्हें आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं ।" (सं० प्र० पृ० ८१)

स्वप्न में विष्णु स्वामी सम्प्रदायानुयायी ब्रह्मिष्ठ देशीय विस्व भगवत् ने साक्षात् होकर निवेदित किया कि— "मेरी कृष्ण प्रार्थना पर भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम ने कुछ समय बाद अपने मुखस्वरूप अग्नि के अवतार-आपके प्रकट होने की बात कहकर आत्मा दी कि वल्लभाचार्य स्वयं शक्ति के द्वारा चार लाख जीवों को मेरी धरण में लावेंगे—" (सं० प्र० ८७)

कुछ दिनों के उपरांत श्री विठ्ठलनाथजी ने (यह घटना विद्यानगर में घटी) वल्लभाचार्य तथा यशिराम व्यासतीर्थ को आत्मसमर्पण करवाया । श्री वल्लभाचार्य से आज्ञा की कि अब विशेषतः अग्निस्वरूप वाक्पति होने के कारण सर्व संदेहों को आप स्वयं दूर कर सकेंगे । (सं० प्र० ८६)

श्री वल्लभाचार्य वेदव्यास से मिलने बदरिकाश्रम पधारे । वहाँ व्यासजी ने वल्लभाचार्यजी से कहा कि अब आप में भगवान् श्री कृष्ण का आवेष्ट हो जाने से सर्वज्ञता प्राप्त हो गई है । (सं० प्र० १०)

— वल्लभाचार्य को रात्रि को स्वप्न में भगवान् कृष्ण और वेदव्यास के बर्णन हुए और साथ ही व्यासजी के प्रति भगवान् को इस प्रकार कहते सुना कि आपके द्वारा प्रणीत भागवत् के गुणार्थ प्रकट करने के लिए ही मैंने मुखस्वरूप वल्लभाचार्य का प्रावर्द्ध किया है । (सं० प्र० ६३)

“भगवान् श्रीकृष्ण ने पुन आवेश दिया कि मैं तुम्हारे घर में श्री गोपीनाथ तथा श्री विठ्ठलनाथ नाम से पुत्र रूप में प्रकट होकर आग भी भक्ति का विस्तार करना चाहता हूँ ।
(सं० प्र० ६५)

एक दिन यात्रा करते हुए श्री कृष्ण चैतन्य सहसा गंगा तट पर विराजमान श्री बल्लभाचार्य के घर आये अन्त में बल्लभाचार्य ने परिस्थिति जानकर और ऐसी वृद्ध भावना कर कि इनके हृदय-मंदिर में साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्णचन्द्र विराजमान है वह स्वीकार करेंगे-असमर्पित भोजन सामग्री से ही महाप्रसाद लिबाकर विदा किया ।

जगन्नाथपुरी में दोनों में घनिष्ठता हो जाने पर बंप्सब सेबब से यह कह कर कि ‘श्री बल्लभाचार्य गुरु ही नहीं प्रत्युत साक्षात् देवकी-पुत्र हैं’ कृष्ण चैतन्य यात्रायै अव्यक्त चले गये थे
(सं० प्र० १०५, १०६)

श्रीमद् बल्लभाचार्य के स्वरूप में कितने ही महानुभाव बंप्सबों को साक्षात्प्रभु के दर्शन होते थे ।
(सं० प्र० १०६)

बल्लभाचार्य की पत्नी को भी अपने पति के महारम्य जानने की एक दिन उत्कट इच्छा हुई तो उनको श्री अग्निपुञ्ज के मध्य में विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में ही अपने पति देव के दर्शन हुए ।
(सं० प्र० ११०)

एक दिन बल्लभाचार्य के विषय में कलिजाल में भी उनके अलौकिक तेज और प्रतिभा को देख कर-उसके प्रश्न करने पर भगवान् नारायण ने कहा था कि यह भूतल पर दैवी मूर्ति के उद्धार तथा मायाबादाघकार के निवृत्त करने के लिये अग्नि, व्यास नारद, रुद्र एवं श्रीकृष्ण भगवत् से प्रकट हुए हैं । अग्नि के ग्रंथ से यह पूर्व जन्म में राजा भोज के रूप में प्रकट हो चुके हैं । सप्रति व्यासाश से आचार्य-स्वरूप वागीश्वर-ब्रह्मचारी से अद्वितीय भगवत्चरित्र के व्याख्याता नारदाश से समर्थ भक्ति प्रचारक, रुद्राश से सन्यास धारण कर जीवों को भगवद्धाम प्रापक तथा भगवान् श्री कृष्ण के ग्रंथ से सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा हैं । मणिप्य में यह अपना अलौकिक तेज स्वात्मज श्री विठ्ठलनाथजी में प्रतिष्ठापित कर भक्ति का अधिक विस्तार करेंगे । भगवत्स्वरूप होने व कारण इनके अद्वितीय पराक्रम तथा दिव्य प्रभाव के विषय में किमी

प्रकार से आदर्श करने की आवश्यकता नहीं । (सं प्र पृ० ११०)

संयासाभिम स्वीकार करने के पूर्व कुछ दिनों पहले श्रीबल्लभाचार्य ने अपने वयस्क अष्ट पुत्र श्री गोपानाथजी से इस प्रकार आज्ञा की कि मेरे लोक त्यागान्तर तुम भी कुछ समय बाद मिल्य लीला में प्रविष्ट हो जाओगे क्योंकि तुम्हारे द्वारा बलदेवाय का कार्य समाप्त हो चुका है । तुम्हारे स्थान पर तुम्हारे सप्त भ्राता श्री कृष्णावतार श्री विठ्ठलनाथ इस वस के प्रवर्तक एवं पुष्टि मार्ग के संचालक होंगे । (सं प्र १११)

बहुत से दैवी जीव कृष्णावतार (सारस्वत कल्पाय) में भी मोक्ष न पा सके । क्योंकि आसुरी जीवों के साथ रह रहे थे । इससे श्री ठाकुरजी श्री स्वामिनीजी उन भक्तों को दुःखी देख कर स्वयं दुःखी हुए । श्री नाथजी को महान विरहताप क्लेश भयो तो श्री मुख में से अग्नि की ज्वाला निकसी । श्री स्वामिनीजी के मुख में से हू अग्नि की ज्वाला निकसी । सो दोऊ ज्वाला एकत्र आई । तब वा अग्नि ज्वाला में से एक घनो सुन्दर स्वरूप प्रकट भयो तब उन ने प्रार्थना करी जो हम को कहा आज्ञा है । तब श्री नाथजी ने कहयो जो तुम भूतल पर पधारो तब श्री आचार्यजी उन दैवी जीवन के उद्धारार्थ भूतल पर पधारे ।

[श्री महाप्रभु की प्राकट्यवार्ता हरिरायकृत । भाव प्रकाश पृ० ७-८
सो स्यमय भट्टजी देखि कै विचार करन साये जो भगवदाज्ञा सुपने में पहले मोकी गई जो-तिहार तीन पुत्र होंगे तामें दूसरे पुत्र श्री भगवान् होंगे । और दूसरे पुत्र की गर्भ तो छै गयो । सो कह्य जान्यो न पर्यो और सगुन सगरे भगवद अवतार के होत हैं । (म प्रा भा प्रा पृ १३)

चौरासी वैष्णव की भासा में समप्रवार्ता के ऊपर भावात्मक संक्षेप लिखते हुए हरिरायजी ने बताया है कि-

'चौरासी वैष्णव को कारण यह है जो दैवी जीव चौरासी सप्त योगि में परे हैं ॥ तिनमें से निकासिवे के अर्थ चौरासी वैष्णव कीए । सो जीव चौरासी प्रकार के हैं । राजसी, तामसी, सात्विकी निर्गुण किए चार प्रकार के गिरे । तामें से गुणमय, राजसी, तामसी, सात्विकी रहन दिए । सो श्री गुसाईजी उद्धार करेंगे । श्री आचार्यजी बिना श्री गोवर्द्धनधर रह न सके तो अपने अंतरपी निर्गुण पक्ष बारे चौरासी वैष्णव (प्रकट) कीए । सो एक एक सप्तयोगि में से एक एक एक वैष्णव निर्गुण बारे के उद्धार

वैष्णव द्वारा किए । और रस शास्त्र में रसाधिक विहार के आसन चौरासी वैष्णव किए हैं सो बखन किए हैं । न्यारे-न्यारे भग के भावरूप चौरासी वैष्णव इस लीला सम्बन्धी निर्गुण हैं श्री ठाकुर जी के अङ्ग रूप । ताते शास्त्र रीति सो आसन चौरासी या भाव सों अलौकिक हैं । और श्री आचार्यजी के भग दादश हैं सो स्वरूपात्मक हैं । एक एक भग में सात-सात धर्म हैं । ऐश्वर्य बीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य एक छह धर्म एक धर्मी एक सात में या प्रकार बाह्य सते चौरासी वैष्णव श्री आचार्यजी के अङ्ग रूप अलौकिक सर्व सामर्थ्य रूप हैं । और साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला चौरासी कोस प्रज में है । सो एक एक जीव को अङ्गीकार कर देवी जीव जो चौरासी लक्ष योनि में गिरे हैं तिनको उधार करि चौरासी कोस प्रज में जो जीव (जा) लीला सम्बन्धी हैं तिनको तहाँ प्राप्त करन के अर्थ चौरासी वैष्णव अलौकिक प्रकट किए ।

(भा०वा०र०प्र०भा०पु० १५ १६)

आचार्यजी के चार रूपों के अनुसार देवी जीव

इस लेख में आचार्यजी के चार रूपों का उल्लेख किया है और तत्सम्बन्धी देवी जीवों का भी । वे चार स्वरूप ये हैं —

१ "ताते अपने अंतरंगी निर्गुण पक्षवारे चौरासी वैष्णव प्रकट किए ।" अंतरंगी-आधिदैविक, निर्गुण पक्षवारे वैष्णव-वेह भाव रहित पुरुषाकार सुधा-बर्हापीठ नटवर वपु स्वरूप सावे भावात्मरीते बिलसनारा भक्तों ने प्रकट किया

२ "और रस शास्त्र रसाधिक विहार के आसन (रूप) चौरासी वैष्णव किए हैं । न्यारे-न्यारे भग के भाव रूप चौरासी इस लीला सम्बन्धी निर्गुण हैं ।

अहीं आसन शब्द की पात्र रूपता कहेली छे । रसनी स्थिति स्त्रीओं माँ ज छे जे श्री ने रसना पात्र रूप छे बने लीला शब्द की सयोगत्वपण सिद्ध ज छे मा लीला नी स्थिति स्वामिनी भाव बिना न थी । अतः अहीं "स्वामिनी भाव संयुक्त" इत्याद्युक्त श्री आचार्यजी परमानन्द रूप गूढ़स्त्री भाव स्वामिनी स्वरूप प्राकट्य कहे नूँ छे ।

३ "और श्री आचार्यजी के अङ्ग दादश हैं सो स्वरूपात्म

हैं।" अहि द्वावश भग शब्द की साकार पृथपोत्तम नू
प्रतिपादन से कारण क 'द्वावशो नै पुरुषः।'

- ४ 'चौरासी कोस व्रज में जो जीव या लीला को सम्बन्धी
हे तिनको तहाँ प्राप्त करम के वर्ष चौरासी वैष्णव
असौकिक प्रकट किए।" अहि केवल विप्रयोगात्मक
कृष्ण स्वरूप कहैसुं छे ।

सम्प्रदायमान्य ग्रन्थों के उत्तम अवतरणों से यह स्पष्ट होजाता है
कि सम्प्रदाय में किस प्रकार महाप्रभु बल्लभाचार्य को कृष्ण रूप
माना गया, और इस सब की पुष्टिमूर्ति में किस प्रकार विष्णु
का, यज्ञ का अग्नि का और रुद्र का वैदिक भवैदिक सौकिक भाव
सन्निहित है । इन्हीं महाप्रभु बल्लभाचार्य के उपरुक्त से सूर ने
गाना पा -

मरोसी बुढ़ इन चरनन केरी ।

.. ..

श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिन सब अगमनि भंधेरी ।
और इन बल्लभ के नख-चन्द्र की छटा सिवाय पुष्टि मार्ग के
दूसरी वस्तु नहीं थी, वह पुष्टि मार्ग सूरदासजी जिसके जहाज
कहाते थे ।

वल्लभ सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग)

वैष्णव सम्प्रदाय के कवियों का विशेषतः अष्टछाप के कवियों का अध्ययन करने के लिए पुष्टिमार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय का स्पष्ट दिग्दर्शन हम यहाँ दे रहे हैं— नाम क्यों ?

पुष्टि का अर्थ अनुग्रह है। 'सागरत' में कहा गया है 'पोषणं तदनुग्रह'—भगवान् कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। अनुग्रह के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् ३ २ ३ में यह उल्लेख है 'नायमात्मा ब्रह्म ह्यनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैव ब्रूयते तेन लभ्यस्त्वस्यैव आत्मा दिव्युते तन् त्वाम्'। कठोपनिषद् के १-२ २२ में भी यह दृष्टव्य है। यही स्पष्ट विवेक होता है कि ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है। ब्रह्म-सूत्र के २ ३ ४२ पर जब भाष्य में स्वयं वत्सभाचार्यजी ने लिखा है 'फलदानं कर्मणो कर्म कर्म प्रयत्नापेक्ष। प्रयत्ने कर्मापेक्ष। कामे प्रबाहापेक्ष इति मर्यादा रक्षार्थं वेदवक्ता'। ततो न ब्रह्मणि शेषं शब्दोऽपि । न चानीश्वरत्वं । मर्यादा मार्गस्य तथैव निर्माणात् । साधान्यया स पुष्टि मध्य इति । इस में 'पुष्टि' मार्ग को मर्यादा मार्ग से भिन्न बताया है। एक स्थल और है जहाँ आचार्यजी ने इस पर विशेष प्रकाश डाला है।

“कृति साध्य साधन ज्ञान यस्मिन् कृत्वा सास्त्रेण बोध्यते । ताम्नां बिहिताम्नां मुक्ति मर्यादा । तद्वाहिता नामापिस्वस्वरूप वसेन स्वप्रापण पुष्टि रित्युच्यते । तथा च य ।

मर्यादा मार्ग में तो ज्ञान और भक्ति को साधना करने से मुक्ति मिलती है पुष्टि मार्ग में तो कुछ समपण करने से ही। इस

१ वाक्य का अर्थ ही यह है (सास्त्रस्य वक्ष्येन) ज्ञान को मुक्ति नहीं दे प्रदान करता है, वह पुष्टि करता है ?

प्रकार यह नाम मर्यादामार्ग से विभेद प्रदर्शित करने के लिए है । जिस मार्ग में फल कर्म के अनुसार न मिले वरन् ईश्वर की कृपा तथा भगवत्प्रहृ या पुष्टि से भक्ति मिले—वही मार्ग पुष्टि मार्ग है । भगवत्प्रहृ ही मनुष्य का निजी उद्योग नहीं भक्ति का साधन है । पर अभिविक्त हो जाने पर उनके भक्ति प्रचार से जब अधिकारी अनधिकारी दोनों प्रकार के जीव भगवत्तत्त्वज्ञ होकर भक्ति में सम्मिलित होने लग गये, और प्रवाहस्व सांसारिक सृष्टि का एक प्रकार से उच्छेद होने लगा तब भगवान् ने दवी-आसुरी-सृष्टि के भेद-स्थापनाय एक मानसिक योजना की ।^१ उन्होंने 'शङ्कर' से कहा कि आप भूतल पर अवतार लीजिये और ऐसे शास्त्रों का प्रणयन और प्रचार कीजिये जिससे मेरे माहात्म्य का तिरोधान और आपके माहात्म्य की अभिवृद्धि हो । आप ऐसे शास्त्रों का निर्माण कीजिये जो आपाततः सत्य किन्तु सारतः असत्य हों ।^२ 'भगवान् शङ्कर' ने तब शङ्कराचार्य जी का अवतार लिया । उन्होंने 'आसुर-सृष्टि' के मोहमार्ग वास्तविक श्रुत्यर्थ को प्रच्छन्न कर उपनिषद् गीता एवं भ्याससूत्र, इस प्रस्थानत्रय पर भाष्य रचना की । इस 'प्रवचनप्रणयन' से जगत में केवलार्थ सिद्धान्त का अतिशय प्रचार हुआ । इस सिद्धान्त को भक्तिमार्ग में मायावाद के नाम से अभिव्यक्त किया गया है ।^३ 'मायैत्यसुरा' से मायावाद आसुरमत माना जाता है । इस प्रकार शङ्कर के उद्योग से आसुरी-सृष्टि दवीसृष्टि से पृथक् हो गयी । इस समय दवीसृष्टि के कल्याणार्थ चार भक्ति-सम्प्रदायों का जन्म हुआ—

१ श्री रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय का २ श्री मध्वाचार्य के सम्प्रदाय का, ३ श्री निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय का और ४ श्री विष्णुस्वामी के परिष्कृत रूप श्री बल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का ।

किन्तु बल्लभाचार्य को पुष्टि-मार्ग की क्यों आवश्यकता समझ पड़ी और अन्य भक्ति सम्प्रदायों के रहते हुए भी इस सम्प्रदाय का क्यों उदय हुआ ?

विद्यानगर में भाष्यसम्प्रदायानुयायी यतिराज व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में श्री बल्लभाचार्य ने भाष्यावादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर शूद्राद्वैत की प्रतिष्ठा की । तब व्यासतीर्थजी ने इन्हें भाष्यसम्प्रदाय को संभालने के लिए निमन्त्रण दिया । उसी दिन

श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मनीषी वित्त्वमङ्गल ने स्वप्न में आचार्यजी से साक्षात्कार किया और बताया कि—

‘आप व्यासतीर्थ के शिष्य न होकर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के रिक्त आचार्य-पद पर विराजमान होइये—’ भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार देवाधिदेव सङ्कर ने सकराचार्य रूप से अवतार लेकर जब देवी जीवों को भी भक्ति से विमुक्त कर दिया तब मैंने— उनके समीपवर्ती भूत वर्ग में स्थान पाने की अभिलाषा प्रकट की।^१ तब भगवान् श्री कृष्ण ने बताया कि मैं अपने मूल-स्वरूप अग्नि के अवतार के रूप में श्री वत्सभाचार्य नाम से प्रकट होऊँगा। तब भक्तिमार्ग की रक्षा का भार उन्हें सौंपकर मेरी साक्षात्सेवा में आ सकोगे। अब आप श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य बनिये।”

यहीं वित्त्वमङ्गल ने उन्हें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की श्रेष्ठता भी बताया। ‘रामानुज सम्प्रदाय की सृष्टि पाञ्चकल्पीय, सिद्धान्त पञ्चपुराणोक्त, आचार्य स्कन्धी गरुड आदि, उपास्यदेव श्रीस्वामी-नारायण हैं। मध्व-सम्प्रदाय की सृष्टि द्वैतबाराहकल्पीय सिद्धान्त भारत रामायणोक्त, आचार्य वायु, हनुमान्, भीमसेनादिक और उपास्यदेव श्री रामचन्द्र हैं। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय की सृष्टि सौर कल्पीय, सिद्धान्त सूर्यमण्डलस्थ हिरण्मय पुरुष प्राक्त और आचार्य एवं उपास्यदेव हिरण्मय पुरुष हैं। विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की सृष्टि सारस्वतकल्पीय, उसका सिद्धान्त बेद-गोता व्याससूत्र-भगवान् प्रतिपादित और आचार्य भगवन्मूल स्वरूप वैश्वानर एवं उपास्य रूप शुक्लागमूताम्बीन्दु श्री गोपीवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण हैं।^२ उन्होंने आगे भी बताया—

‘उक्त सम्प्रदायों में नारदीय-यश्वराज वैखानसादि शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा-भुजादि का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय में आत्मनिवेदनार्थक भक्ति की स्थापना की गई है तथापि वह मर्यादामार्गीय है। अब आपको इस सम्प्रदाय में पूष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है।’^३

इन सब अवतरणों से सिद्ध होता है कि वत्सभाचार्यजी ने

मामावाद का खण्डन किया। मायावादियों ने काशी के शास्त्रार्थ में प्रकट किया था कि—

‘ब्रह्म निर्बैर्भक निराकार, प्रपञ्च मिथ्या स्वरूप, मामाकृत और जीव वास्तव में चैतन्यरूप व्यापक ब्रह्म ही ॥’ इसके प्रत्युत्तर में श्री वल्लभाचार्य ने प्रतिष्ठा की थी कि— ब्रह्म विरुद्ध-वैयर्थ्य प्रपञ्च भगवत्कृत होने से सत्य और संसार—अहन्तात्मक—अविद्याकृत होने से मिथ्या एवं जीव—भगवदश्रय—अणु स्वरूप विसर्पिगुण-चैतन्य है।’

पुष्टिमार्ग का स्थूल पक्ष क्या ?

पुष्टिमार्ग मामावाद का खण्डन करता है भक्ति की स्थापना करता है, और भक्ति के अन्य सम्प्रदायों से भी पूषकता रखता है।

मायावाद के विरुद्ध तो यह दृढावतवाद का प्रतिष्ठापक है। प्रपञ्च और संसार में भेद करता हुआ प्रपञ्च का भगवत्कृत मानना है इसलिए सत्य भी मानता है। संसार को अहन्तात्मक अर्थात् अविद्याकृत मानता है—संसार ही इसलिए मिथ्या है। जीव स्वयं चैतन्य स्वरूप ब्रह्म नहीं। फलतः अह-ब्रह्म का यह मार्ग विरोध करता है। यह तो जीव को भगवदश्रय अणु स्वरूप विसर्पिगुण चैतन्य मानता है।

चारों भक्ति सम्प्रदायों और उनके उपसम्प्रदायों* से वल्लभ सम्प्रदाय का पक्ष भिन्न है उक्त सभी सम्प्रदाय मर्यादावादी हैं। वे सत्स्मीनारायण रामचन्द्र, हिरण्यपुरुष तथा श्रीकृष्ण (विष्णुस्वामी) को आराध्य मानते हैं। आराध्य की दृष्टि से वल्लभ सम्प्रदाय विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का निकटवर्ती है इसीलिए उस विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की शाखा माना जाता है। पर विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से वल्लभ सम्प्रदाय का भेद है। विष्णुस्वामी सगुण भक्ति के प्रचारक और प्रतिष्ठापक थे। वल्लभाचार्यजी ने ‘नियुग्ण’ (अर्हसुकी निष्काम) भक्ति की स्थापना की।

शुकर ने सत्वास को प्रधानता दी। वल्लभ ने गृहस्थ धर्म को निभाने के उपरान्त अन्त में सयास लिया, और इस प्रकार दोनों का समन्वय स्थापित किया तथा विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के भक्तिमार्ग को पाषा सिद्धान्त-रत्ना से विद्यप अलंकृत किया है

ये हैं—(१) गुरु सेवा, (२) भगवत्पार्थ (सुबोधिनी), (३) भगवत्स्वरूप निगम, (४) भगवत्सेवा (पूजा मार्गीय उपासना से विलक्षण) तथा (५) 'निरपेक्षता'। 'हरिर्यश्चरिष्यति, सर्वेव तस्मै लीला' यह भावनामय निरपेक्षता (निष्कामता) इस सम्प्रदाय का मूकट-हीरक है।

भगवान् श्रीकृष्ण—

शर—'अधिभूत शरो भाव' 'शर' परमात्मा का अधिभौतिक स्वरूप है।

अशर—'प्रकृति पुरुषश्चोभौ परमात्मा भवत्पूरा,
यद्रूप समाधिष्ठाय मदशरमुदीर्यते।'।

जिस रूप का अधिष्ठान सेकर परमात्मा ने प्रकृति और पुरुष का रूप धारण किया है, वह अशर उभका आध्यात्मिक स्वरूप है।

इन दोनों से व्योष्ठम नित्य-सुख-बुद्धि-मुक्त स्वभाव, फलान्वित पूर्ण पुरुषोत्तम, भगवान् श्रीकृष्ण है। (सं० प्र० पृ० १२१)

पूष्पावतारता—

भागवत में मूतजी ने लिखा है—'एतेबाणकना पुत्र कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—ये वह कृष्ण हैं जो 'सारस्वत कल्प' के हैं और जिनका उन्मेष भागवत में हुआ है।

देवकी पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा हैं और वह परब्रह्म साकार, व्यापक एवं विरुद्ध-स्वरूप हैं।

'भीमस्तभाचार्यजी साक्षात् श्री भगवान् की अवतार हैं और चार्यों आपार्यों संप्रदाय के अवतार ब्रह्म हैं प्रगटित हैं। तिनकी प्राप्ति ब्रह्म में है। (म० प्रा० बा० भा० प्र० पृ० ५०)

अतः श्री गुर्गार्वजी बल्लभाष्टक में 'वस्तुतः कृष्ण एव एम आशा करे धे [श्री० बा० १० प्रथम भाग—वार्ताहस्य (गुजराती) पृ० ५]

हरिरायजी ने 'भावप्रकाश' में एक स्थान पर यह भी लिखा है—

१—विष्णु सम्प्रदाय का चैतन्य, २—रामानुज सम्प्रदाय का मन्द (रामानन्द), ३—मध्व सम्प्रदाय का प्रकाश, ४—विष्णुर्वाक्य का स्वरूप (मं० प्र० पृ० ५४)।

‘‘सो जैसे श्रीकृष्ण और श्री स्वामिनीजी में न्यारो स्वरूप जाने सो अज्ञानी । सो तैस श्री गोवर्द्धनधर और श्री आचार्यजी हैं ।’’
(प्रा० वा० २० द्वि० भा० पु० ५३)

इनसे निष्कर्ष मिलता है कि—

१—श्री वत्सनाचार्य बैश्वामरावतार अग्नि अवतार, पूर्ण पुरुषोत्तम के मुखावतार हैं । [अग्नि पुरुषोत्तम का मुख है] अतः वे वाक्यमति हैं ।

२—उनमें श्रीकृष्ण का आवेश है । वे साक्षात् प्रभु हैं, देवकी-पुत्र हैं वस्तुतः कृष्ण हैं ।

श्री आचार्यजी के मुख्य सात स्वरूप—

१—मुख्य पुरुषाकार सुधा ।

२—आनन्द स्वरूप—भगवद्भाव रूप कृष्ण स्वरूप ।

३—परमानन्द स्वरूप—गूढ़स्त्री भावरूप स्वामिनी स्वरूप ।

४—कृष्ण स्वरूप—धर्मी विप्रयोगात्मक स्वरूप ।

५—वैदवानर स्वरूप—तापात्मक ।

६—वत्सल स्वरूप—सीला मध्यपाती वाक्यरूप ।

और—

७—आचार्य स्वरूप—समनुष्याकृति भक्तिमार्गमार्तण्ड और वाक्यमति स्वरूप । (प्रा० वा० २० प्रा० भा० वार्तारहस्य गु० पु० ५)

तहाँ आधिदैविक भक्ति तो श्री स्वामिनीजी, सो सदा व्रज में सीला करत हैं । सो भक्ति वो श्री गोकुल में प्रकट भई । ताहीं तें आचार्यजी श्री स्वामिनी रूप को प्राकट्य व्रज में अलीकिक रीति सों है । (श्री मा० प्रा० वा० पु० १०)

और दामोदरदास को असीकिक स्वरूप हैं सो ललिताजी को प्राकट्य है । वहाँ सगरी रहस्यश्रीला में श्री स्वामिनीजी की आज्ञाकारी जैसे ललिताजी तैसे ही वहाँ श्री आचार्यजी की आज्ञाकारी ललितारूप दामोदरदास—(प्रा० वा० २० पु० ३७ ।*

*प्राचीन वा २० प्रा मा० ५ १०९ की पाद-टिप्पणी में दामोदरदास के पास के पत्र के हस्त्यक्षर में लिखा है : ५ किंवा सवि है । श्री स्वामिनीजी की

इन कथनों से यह सिद्ध होता है कि श्री आचार्यजी स्वामिनी-स्वरूप भी थे ।

स्वामिनी कौन ?

स्वामिनीजी श्री चन्द्रावलीजी मानी गयी हैं । 'पुष्टि सम्प्रवामना' मते अष्ट सखीनां नाम या प्रकारे छे,—श्री चन्द्राभामाजी, श्री सन्मिताजी, श्री विद्यासाजी, श्री चम्पकसताजी श्री चन्द्रावलीजी, श्री राधासहस्ररी, श्री श्यामाजी अन श्री मामाजी । आठमां श्री चन्द्रावलीजी ने स्वामिनीत्व छे अन्य सात ने सतीत्व छे । (इन गुजराती पक्षियों के लेखक ने पाठ-टिप्पणी में बताया है कि 'आ समस्त प्रकरण युगलसर्वस्व अने अन्य प्राचीन पुस्तकामापी उदभूत क्यु छे । प्राचीन वा० २० प्र० भा० समस्तलीला प्रकरण

प्राचीन वार्ता रहस्य द्वितीय भाग में 'महानुभाव सूर' में 'भावप्रकाश' में पृष्ठ ३ पर लिखा है—

'सा राज में श्री स्वामिनीजी और श्री ठाकुरजी आपु ये दोठ एक रूप हैं, परन्तु प्रजलीला प्रकट करिये के लिये श्री ठाकुरजी श्री मन्दरामजी के घर प्रकटे और श्री स्वामिनीजी श्री वृषभानजी के घर प्रकट होय के अनेक उपाय मिलिये कों राज दिन किये ।'

इससे विदित होता है कि स्वामिनीजी श्री वृषभानुनंदिनी हैं । वृषभानुनंदिनी राधा हैं ।

यह बात प्राचीन वा० २० द्वितीय भाग में 'कण्णदास अधि कारी' की वार्ता में हरिरायजी ने भावप्रकाश में स्पष्ट कर दी है । बहुत प्रसङ्ग है कण्णदास का गद्गावाई सम्बन्धी आरोप में गोसांईजी को धिमाय सेवा से वंचित कर देने का । हरिरायजी ने बताया कि कण्णदास छलित रूप हैं । ठाकुरजी गोवर्द्धनधर स्वामिनीजी आचार्यजी य दोनों महाप्रभु में समीकृत हैं । गोसांईजी चन्द्रावली हैं—ये समस्त सखियां स्वामिनी ॥ इन उद्धरणों से स्पष्टता हो आयी—

जो श्री ठाकुरजी तें श्री स्वामिनीजी प्रकटी हैं । और

विष्णु मय में निवासन कुज सँवारणें यह तैरी सेवा है । सो आचार्यजी (स्वामिनीजी) श्री तु छकि हो । कन्दि की सत्य बोध । यह भीति गुनारे । (श्री हरिरायजी)

स्वामिनीजी के मुखचन्द्र तें श्री चन्द्रावली प्रकटी । श्री चन्द्रावलीजी तें सगरी स्वामिनी सखी प्रकटी हें । ता सों श्री ठाकुरजी के दक्षिण भाग श्री चन्द्रावलीजी विराजत हें । याते जो—सगरी सखीम के स्वामिनी रूप, श्री चन्द्रावलीजी (सो सब में) श्रेष्ठ है । ×

×[प्रा० वा० २० दि० भा० पृ० २२२]

या प्रकार श्री ठाकुरजी श्री स्वामिनीजी की इच्छा तें श्री गोवर्द्धन गिरिगज में प्रकट भये और श्री स्वामिनीजी रूप श्री आचार्यजी महाप्रभु श्री गोवर्द्धनचर का प्रकट किये । सो सीला में श्री स्वामिनीजी तें चन्द्रावलीजी का प्राकट्य । साहा भाति सों यहाँ श्री आचार्यजी सों श्री मुसाईजी को प्राकट्य और शक्ति सों कृष्णदास अधिकारी भये । [प्रा० वा० २० दि० भा० पृ० २२४]

इस प्रकार आचार्यजी में गोवर्द्धन (ठाकुरजी) और स्वामिनी का आरोप हुआ, और उनके समस्त परिकर को ठाकुरजी और स्वामिनीजी के परिकर का रूपक दिया गया है । जिस प्रकार आचार्यजी में दोनों रूप (पुरुष-स्त्री) स्थित हैं—उसी प्रकार प्रत्येक भक्त में । हरिरायजी ने भावप्रकाश में 'महानुभाव घूर' के आरम्भ में तथा और भी स्थानों पर इसी अभिप्राय की बातें लिखी हैं, उन्होंने लिखा है—'कुँज में सखीजन हैं सो तिनके दोय स्वरूप हैं, सो कहता पु भाव के सखा और स्त्री भाव की सखी । सो दिन में सखा द्वारा अनुभव और रात्रि कों सखी द्वारा अनुभव है । सो काहे तें ? जो वेद की श्रुति है सो पापी है । और वेद के जो मन्त्र हैं सो सखा हैं । सो यहाँ सो रसरूप सीला सखा सर्वदा एक रस हैं । सो तैसे ही अन्तरङ्गी सखा श्री ठाकुरजी के अङ्गरूप हैं । सो सखी रूप सखाक्य दोऊ रूप सों रात्र दिन सीला रस करत हैं । सो सासों सूरदास 'कृष्ण सखा' को प्राकट्य हैं । और कृष्ण सखा को दूसरो स्वरूप सखी है सो सीलाकुँज में है तिनकी नाम अभ्यकसता है ।

भक्त के तीन प्रकार—

एक ही व्यक्ति में सखा और सखी के इस बिधान से आचार्यजी और उनके परिकर का (आधिभौतिक का) आधिदैविक सम्बन्ध कर दिया गया है । जिससे अन्ततः शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा होती है । "आचार्य बल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधिदैविक=परब्रह्म, (२) आधिभौतिक=अन्तर ब्रह्म,

(१) आधिभौतिक = जगत । अतः जगत ब्रह्मरूप ही है ।”

(भारतीय दर्शन ब० उ० पृ० ५१६)

सत्ता-सत्ता और ब्रह्म—ठाकुर-स्वामिजी तथा उनके भौतिक रूप आचार्यजी और उनके परिकर की अद्वैतता इसी प्रकार सिद्ध होती है ।

शुद्धाद्वैत—

पुष्टिमार्ग का ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है । (भा० ब० ५१५)

माया सम्बन्ध रहित शुद्धमित्युच्यते बुधै ।

कार्यकारणरूप हि शुद्धं ब्रह्मण मायिकम् ॥२८॥

(शुद्धाद्वैत मार्तण्ड भा० ब० पा० रि० ५१५)

“इस मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट अज्ञोक्त किया गया है । अतः उसमें विवद धर्मों की स्थिति भी नित्य है । यह विवद धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है प्रत्युत स्वाभाविक है ।” पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का सिद्धान्त है ।

ब्रह्म और जगत एक हैं—

जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फेंकाने पर वहीं रहता है, उसी प्रकार आविर्भाव वशा में जगत तथा तिरोभाव रूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं । जगत का आविर्भाव काय केवल लीला-मात्र है । (भारतीय दर्शन पृ० ५१६) । अतः जगत ब्रह्मरूप एवं नित्य है ।

“जगत के विषय में आचार्य ‘अद्विकृत परिणामवाद’ को स्वीकार करते हैं । जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता । श्रीमद्भागवत एवावश स्कन्ध में इसी तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करा है—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यस्य ।

तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं मानापदेशाहमस्य तद्वत् ॥

आचार्य जगत की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं । (भा० ब० पृ० ५१८)

जगत और संसार—

वत्सभ-मत में जगत और संसार में एक विलक्षण पारमार्थ्य स्वीकृत किया जाता है । ईश्वरेच्छा के विलास से सर्वथा से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत' कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममता रूप पदार्थ की सत्ता 'संसार' है । (मा० ष० पृ० ११८)

अविद्या—

अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपज्ञान वेदाभ्यास इन्द्रियाभ्यास, प्राणाभ्यास तथा अन्तःकरणध्यास । इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है । परन्तु ब्रह्मरूप होने से 'जगत' का कभी विनाश सम्भव नहीं । (मा० ष० पृ० ११८, ११९)

जीव—

भगवान् की जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुणों के भ्रमों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर बैठते हैं । इस व्यापार में जीव की इच्छा ही प्रधान कारण है । माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता । ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में वीर्यता उत्पन्न होती है और मय के तिरोधान से हीनता ।

ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता

मय " हीनता

जीव समस्त विपत्तियों का आस्पद

ज्ञान अनात्मरूप वेदादिकों में आत्मबुद्धि

आनन्द " दुःख को प्राप्त करता है ।

'ब्रह्म से आदिर्भूत जीव अग्नि स्फुरितकृष्णत्वं नित्य है । यह व्युत्पन्न उत्पत्ति नहीं । अतः व्युत्पन्न होने पर भी जीव की निरूपता में ह्रास नहीं होता । वत्सभ-मत में भी जीव ज्ञाता ज्ञान स्वरूप तथा अणुरूप है । भगवान् के अविकृत सचय से ब्रह्म का निर्ममन—ब्रह्म के निर्ममन में चिदरा तथा आनन्दोद्योग दोनों का तिरोधान रहता है । भगवान् के अविकृत चिदरा से जीव का निर्ममन होता है—जीवन के निर्ममन काल में केवल आनन्दोद्योग का ही तिरोभाव रहता है । (प्रमय रत्नामय)

जीव के प्रकार—

१—शुद्ध, २—मुक्त, ३—ससारी । स्फुल्लिगवत् व्युत्थरप के समय आनन्द का तिरोभाव होने से पूर्व तक की वधा—'शुद्ध' ।

अविद्या का सम्बन्ध होने से 'ससारी'—ये दो प्रकार के १—दैव २—आसुर । दैव जीव के दो भेद १—भर्यादामार्गीय, २—पुष्टिमार्गीय ।

मुक्त अवस्था में जीव आनन्दोप को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द हो जाता है । यह आनन्दोप पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान का नैसर्गिक अनुग्रह होने से प्राप्त होता है । (भारतीय दर्शन के आधार पर पृ ५१७-५१८)

किन्तु ऊपर के अध्याय में वत्सभाचार्य के स्वरूप के साथ साम्प्रदायिक दृष्टि से जीवों का एक वह प्रकार भी हमने प्रस्तुत कर दिया है जिससे आचार्यजी के रूपों से सम्बन्ध का आधार निश्चित होता है और भारतीय धर्मों में मानव चौरासी लाख योनियों में से प्रत्येक के उद्धार की सम्भावना निश्चित होती है । इसके आधार पर समस्त सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्तों को चौरासी और दो सौ वैष्णव भक्तों में ही विभाजित नहीं किया गया आये सम्प्रदाय के स्वरूप को भी बाला गया ।

सम्प्रदाय के स्वरूप में गोपीभाव और सूर

वत्सम सम्प्रदाय में हमें यह विद्वान् प्रचलित मिला है कि वत्सभाचार्य स्वयं कृष्ण थे । वत्सभाष्टक में श्री गुरुदेवी ने लिखा है 'वस्तुतः कृष्ण एव' । वत्सम में कृष्ण का आरोप होने से उनके समस्त परिवार को अवतारणा पृथ्वीमण्डल पर की गयी । जिस प्रकार मागवतादि में कल्पना है कि कृष्ण के जन्म के समय वन की समस्त वृक्षायें गोपा वनी मग्न गाँव तथा अन्य दही जीवों ने भी मोला के लिए जन्म लिया उसी प्रकार के एक उद्देश्य के लिए वत्सभाचार्य में कृष्ण ने खादि स्वरूप हो पुन अवतार लिया । वत्सभाचार्य के अवतार का कारण कृष्णावतार से मिला है । सम्प्रदायों की दृष्टि से तो यह अवतार मायावाद के स्रष्टन के लिए था । छद्म के मायावाद ने भारत में अपना प्रबल प्रभुत्व जमा लिया था, सम्प्रदाय के निजी अभिप्राय से यह कल्पना की गयी है कि सारस्वत कल्प में कृष्णावतार के समय अनेकों नक्तों को तो ठाकुरजी का धाम मिल गया, अनेकों उनसे विमुक्त होकर फिर भी रह गये । ये सभी दही जीव थे । इनका उद्धार करने के लिए श्री वत्सम का अवतार हुआ ।

वस्तुतः जब हम वत्सभाचार्य के जीवन पर प्रकाश डालते हैं तो प्रारम्भिक अवस्था में उनमें हम मायावाद के स्रष्टन करने वाला प्रबल ताकिक ही पाते हैं । उन्होंने स्थान-स्थान पर मायावाद का स्रष्टन कर वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा की । विमयनगर में उनके तर्क से प्रभावित होकर वैष्णवों के विविध सम्प्रदायों ने उन्हें अपने मार्ग में अभिषिक्त करने का प्रस्ताव रखा था । उस समय तक स्पष्ट है कि उन्होंने वत्सम सम्प्रदाय की कल्पना नहीं की थी । बाद में उन्होंने बिष्णुस्वामी सम्प्रदाय स्वीकार किया और सब अपने सम्प्रदाय की नींव डाली । अपने सम्प्रदाय की नींव

आखिरी समय भी उनमें स्वयं कृष्ण का अवतार होने की भावना नहीं थी। पर उनकी महातेजस्विता और विविध पिरोधियों के समक्ष अद्वितीय सफलता ने उनके भक्तों को प्रभावित किया। वे उनमें महापुरुषत्व के दर्शन करने लगे। बल्लभाचार्य ने धर्मिक से अधिक गुरुत्व धारण किया। 'श्री बल्लभ गुरु एव बताया सीला भेद सुनायी'। घने घने उन्हीं के समय में उनके सम्प्रदाय के अन्दर श्री बल्लभकुरु के प्रति महान् भ्रष्टा उदय हुई और उनमें अवतार होने की भावना जड़ पकड़ने लगी। सम्प्रदाय के पुराण का आरम्भ हो उठा। पर यह सम्प्रदाय की पौराणिकता श्री गौसाईं विठ्ठलनाथ के समय में सम्भवतः उन्हीं की प्रेरणा और उद्योग से विकसित तथा पल्लवित होने लगी, और हरिरायजी न गोकुलनाथजी के साथ उसे पूर्ण कर दिया। सम्प्रदाय के सिद्धान्त प्रयोगों का निर्माण तो श्री बल्लभाचार्य कर गये थे। उनकी दृष्टि से भगवान् की सीला में सम्मिलित होने और उसके रस का आनन्द उपलब्ध करने के लिए भक्त भगवान् की पुष्टि अपना अनुग्रह पर निर्भर था—अतः यह मार्ग पुष्टिमार्ग था। उस पुष्टि को पाने के लिए कृष्णापण होना आवश्यक था। दार्शनिक दृष्टि से यह मार्ग 'शुद्धाद्वैत' था। गौसाईं विठ्ठलनाथजी ने उसे सम्प्रदाय बना दिया। आचार्यजी के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्याएँ की गयीं उनके कुर्यों का उनके सिद्धान्तों की दृष्टि से एक समन्वय प्रस्तुत किया गया जहाँ समन्वय नहीं हो सका वहाँ किसी अलौकिक कृपा द्वारा समानान्तर प्रस्तुत किया गया। वे गौसाईं विठ्ठलनाथजी से जिन्होंने अष्टछाप के रूप में अष्टसप्ताहों की स्थापना की। अतः पुष्टिमार्ग के साम्प्रदायिक ग्रन्थों का निर्माण गौसाईं विठ्ठलनाथजी के समय में हुआ। सम्प्रदाय में स्वयं गौसाईंजी को भी पूर्ण पुरुषोत्तम का रूप प्रदान किया गया। जो प्रभु की यह रीति है जो जब बकुण्ठ सों भूमि पर प्रकट होयबे की इच्छा करत हैं तब बकुण्ठवासी को भक्त हैं सो पहले भूमि पर प्रकट करत हैं सो तैसे ही श्री आचार्यजी श्री गौसाईंजी श्री पूर्ण पुरुषोत्तम को प्राबल्य हैं। (वार्ता प्रसङ्ग १० सूरदास, हरिरायजी वृत्त भावप्रकाश)

इस मायता या परिणाम यह हुआ कि बल्लभाचार्यजी और गौसाईंजी प समस्त परिवार और भक्त मण्डलों का भी वैसा ही अधीनस्थ दैर्घ्य रूप बलित किया गया। कृष्ण के सत्ताधो के नाम

से हम सखाओं को भी अभिहित किया गया । पर इस प्रकार का आरोप गोस्वामी गोकुलनाथजी तक तो नहीं मिलता । उन्होंने अष्ट सखाओं के वर्णन में ऐसे अलौकिक दूसरे शब्दों में सीला रूपों का उल्लेख नहीं नहीं किया । 'भगवदीय ही बताया है । 'श्री आचार्य महाप्रभुजी की प्राकट्यवार्ता' में जहाँ महाप्रभुजी के अन्य अमरकारिक कृत्यों का उल्लेख है वहाँ एक पक्षी के सम्बन्ध में श्री आचार्यजी ने कृष्णदास मेघन को यह सूचना दी है यह पक्षी रासलीला में सीला परिकर में है बुन्नावन में । यह भगवदीय है सीला की सम्बन्धो है । —पर यहाँ । अभी नामकरण नहीं हुआ है । केवल स्थूल धारणा यह बनने लगी है कि परिकर के प्राणी रबी जीव है । वे ही सीला-प्राप्ति के अधिकारी हैं । इसमें दामोदर हरसानी (हमला) अथवा कृष्णदास मेघन का सीला रूप गोकुलनाथजी ने निर्धारित नहीं किया । इसी प्रकार अष्ट सखाओं में से भी किसी का रूप निर्धारित नहीं हुआ । पर हरिरायजी 'भावप्रकाश' में प्रत्येक चरित्र का वर्णन ही सीला रूप का परिचय देते हुए करते हैं । उदाहरण के लिए सूरदास के सम्बन्ध में उन्होंने सबसे आरम्भ में लिखा है—

'तो ये सूरदासजी सीला में श्री ठाकुरजी के अष्ट सखा हैं सो दिन में ये कृष्ण सखा की प्राकट्य हैं । श्री परमानन्दजी के लिए लिखा है 'सो ये परमानन्दजी सीला में अष्ट सखान में 'ठोक' सखा की प्राकट्य हैं । यही नहीं प्रत्येक भक्त का सखो रूप भी साध्यात्मिक परिचय के लिए दिया गया है । यहाँ अष्टछाप के ऐसे समस्त रूपों की साक्षिका देने से यह सब स्पष्ट हो जायगा —

नाम भक्त	सीलात्मक स्वरूप			
	सखा	सखी	भगवद्गुण स्वरूप	सीला विभिन्न स्वरूपासक्ति
सूर	कृष्णसखा	अम्बकलता	वाक	श्री मधुरेशजी
परमानन्ददास	ठोक	अद्रमाला	बिहवा	श्री नवनीतप्रिया
कुमनदास	अर्जुन	विद्याला	द्योत	श्री गोवर्धननाथजी
कृष्णसखा	पद्म	श्री सलिला		
छोठ स्वामी	सुबल	पद्मा	मुख	श्री विठ्ठलनाथजी
मोविन्दस्वामी	धीदामा	भामा	नेत्र	श्री कारिकाधीशप्रभु

धनभुवदास विशाल विमला स्वप्ना श्री गोकुलनाथजी
नन्ददासजी मोन चन्द्ररेखा उदर श्री गोकुलचन्द्रमाजी

इस सम्प्रदायिक रहस्य निरूपण का कार्य यहीं नहीं रुका । विविध सन्नियों के रंग रूप वस्त्र सेवा आदि सबका विधान किया गया जैसे दामोदरदास हरसानी का लीलास्वरूप ललितजी रंग गोरोचन प्रभा उज्ज्वल लाल संयुक्त, वस्त्र का रंग मयूर पुष्प, मुख्य सेवा पान की बीड़ी चातुर्य मध्या मुख्य स्नेह बर्धन भाव सख्य वाद्य वीन । इस प्रकार अन्य सन्नियों के सम्बन्ध में भी विस्तारपूर्वक निरूपण हुआ । फलतः पुष्टिमार्ग और उसके पूरे परिकर की रहस्य गाथा का एक महान् संक्षिप्त ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत हो गया है ।

पुरुषों को सत्ता-रूप माना गया, यह तो ठीक है पर उनमें सखी रूप का आगेष क्यों हुआ ? इस विषय पर हरिरायजी ने प्रकाश डाला है —

‘वहाँ कहत हैं जो श्री भागवत में कहे हैं जो—अथ श्री ठाकुरजी आप बन में गोचारन लीला में सखान के संग पधारत हैं सो सगरी गोपीजन लीला की अनुभव करत हैं । सो घर में सगरी बम की लीला गान करत है । ता पाछें जब श्री ठाकुरजी सध्या समय वनते भरकू आवत हैं सो सब पाछें रात्रि की गोपीजन सो निकुंज में लीला करत हैं । सो तब अन्तरङ्गी सखानको विरह होत है, सब वे निकुंज लीला की गान करत हैं अनुभव करत हैं । सो काहे तैं ? कुंज में सखीजन ह सो तिनके दोय स्वस्म्य हैं सो कहत हैं —पु माव के सखा और स्त्री भाव की सखि । सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि की सखि द्वारा अनुभव है ।

इसीलिए प्रत्येक भक्त के दो स्वरूप मिलते हैं एक सत्ता रूप दूसरा सखी रूप एक दिन का एक रात्रि का । यह स्थिति तो इस विषय में वत्सल सम्प्रदाय की है । पर इस सम्बन्ध में यह सम्प्रदाय अकेला ही हो ऐसी बात नहीं है । चैतन्य सम्प्रदाय में भी ठीक ऐसा ही सम्प्रदाय विधान प्रतीत होता है । वत्सल सम्प्रदाय की माग्य प्रामाणिक पुस्तक ‘सम्प्रदाय प्रदीप’ में प० गदाधरदासजी ने विष्णु स्वामिन उप-सम्प्रदायचैतन्य से विष्णुस्वामी का उप-सम्प्रदाय चैतन्य-सम्प्रदाय बताया है । उन्होंने वत्सल सम्प्रदाय को भी विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय माना है । इस

प्रकार बल्लभ सम्प्रदाय के बिहानों ने चैतन्य सम्प्रदाय से अपना मौलिक सम्बन्ध सिद्ध किया है ।

इस चैतन्य सम्प्रदाय में चैतन्य महाप्रभु कृष्ण हैं । उन्होंने राधा के प्रेम-भाव रूप में जन्म लिया जिससे वे राधा के कृष्ण प्रति प्रेम का स्वाद ले सकें । अतः इस दृष्टि से चैतन्य राधा का भी रूप थे । राधा-रूप हुए बिना उस प्रेम का आस्वाद सम्भव नहीं था । चैतन्यचरितामृत में कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने लिखा है —

‘श्री राधाया प्रणव महिमा कीवसो बानयेवा,
स्वाद्यो येनोद्धत मधुरमा कीदृशी वा मयीय ।
सौख्य धाम्यामदनुभवत कीदृशं रेति सोमा,
उद्धवात्म समन्नि शची गर्भं सिन्धो हरीन्दु ।’ ॥

फलतः इस सम्प्रदाय के छ गोस्वामी तथा अन्य अनुयायी वे भी गोपीभाव युक्त माने गए हैं ।

‘जाना स्थाने अन्ये जन सत्तासत्कीर्ण
पुन सबे असि प्रभूर सहित मिलन ।

राधा को प्रेम से भी ऊपर का महाभाव माना गया, और राधा की सखियाँ उस महाभाव सागर की लहरियाँ हुईं ।

‘प्रेमेर परमभाव महाभाव जानि
सेह महाभाव रूपा राधा ठाकुराभी
मावेर लहरी यत ललितता बिसाखा
सख कहि भावपूर्णमयी श्री राधिका ।’

जिस भाव से जिस अनुयायी ने सेवामात्र ग्रहण किया, उसी भाव की गोपी या मजरी से उसको विभूषित कर दिया गया । रूपगोस्वामी, रूप मजरी हैं, रघुनाथ रसमजरी जीव गोस्वामी बिलासमजरी आदि । ‘मजरी क्या ? प्रधान सखियों की सखियाँ मजरी कहलाती हैं । इस विकास में चैतन्य सम्प्रदाय में हमें तीन स्थितियाँ स्पष्ट मिलती हैं ।

एक, जिसमें चैतन्य के अनुयायी सत्ता रूप में कल्पित किये गए हैं । मणीन्द्रमोहन घोस ने लिखा है ‘महामारत में कृष्ण बिष्णु हैं युधिष्ठिर धर्म हैं, अर्जुन इन्द्र हैं, भीम पवन हैं, इसी प्रकार अन्य पात्र भी । यह विदवांस है कि जब ईश्वर का अवतार

होता है तब उसके स्वर्ग के साथी भी पृथ्वी पर उसके परिकर की भाँति जन्म लेते हैं इन्हीं सिद्धान्तों पर बङ्गाली वैष्णवों ने चैतन्य और उसके साथियों का द्वापर युग के कृष्ण और उसके साथियों के रूप में माना है ।

"In the Mahabharata, Krishna is Vishnu, Yudhishtira is Dharma, Arjuna is Indra Bhima is Pavana and so on with other personages. It is also believed that when God incarnates Himself His associates in heaven are also born as His associates on earth. Working on this principle the Bengali Vaishnavas have identified Chaitanya and his companions with Krishna and his associate in Dvapara Age. (Journal of the Department of Letters of the Calcutta University, Vol XIII)

इस नियम से चैतन्य कृष्ण हैं, उनकी स्त्री लक्ष्मी, भक्त महाप्रेक्ष, नित्यानन्द बलराम हैं । और

अभिराम ठाकुर—श्री दामा

सुन्दरानन्द—सुदामा

घनश्याम पण्डित—वसुदामा

गौरीदास पण्डित—भुवनेश्वर आदि (गौरानन्दोद्देशदीपिका)

फिर दूसरी अवस्था में चैतन्य के अनुयायी उसी रूप में परिकल्पित किये गये

गदाधर पण्डित—राधा

रूपगोस्वामी—कृष्ण

राय रामानन्द—विद्यादाता, आदि ।

तीसरी अवस्था में सत्तियों की सत्तियाँ—मञ्जरियाँ—भी इस आरोप का विषय बनायी गयीं ।

शबल मञ्जरी हय गोसाईं सनातन

रति मञ्जरी हय रघुनाथदास

अनन्त मञ्जरी हय गोपाल भट्ट आदि (रागमाला)

राधा 'महाभाव' प्रेम से ऊपर, इस दिव्य प्रेम के दो प्रकार मुख्य तथा गौण, मुख्य में पाँच सूक्ष्मतर भाव धामस्त यत्ति, प्रेम,

बासस्म, और मधुर, गीण के साथ हास्य, अद्भुत, बीर, कवच रौद्र भयानक तथा भीमस्म । इन बारहो भावों का अपना-अपना रङ्ग रवेष्ट, चित्र अरुण, शोण, वयाम पाण्डुर पिङ्गल, गौर धूम रक्त, काल तथा नील (भक्तिरसामृत)

मणीन्द्रनाथ बोस का कहना है कि ये बारह सूक्ष्म मनोभाव तुरन्त ही हमें राधा की बारह सखियों का स्मरण दिसाते हैं ।
These twelve finer emotions at once remind us of the twelve Sakhis of Radha सखियों के रङ्ग की कल्पना की गयी है

श्री कलिका जिह गौरोचना यथ

श्री विद्याका जिह विद्युत वर्ण आदि (गुणालिका)

इन वैष्णवों ने भी केवल रङ्गरूप का उल्लेख ही नहीं किया, वस्त्र तथा आयु भी निर्धारित कर दी है ।

प्रश्न यह है कि इन दोनों सम्प्रदायों में यह रूपक कल्पना स्वतन्त्र उदय हुई थीर संयोग ही है कि इस प्रकार का साम्य हो गया, क्योंकि दोनों के सम्प्रदायों का दार्शनिक स्वरूप आधार एक ही था वस्तुतः वस्तुतः कण्य एवं ठाकुरजी और स्वामिनीजी दोनों एक । चैतन्य कण्य और राधामय है । अथवा एक ने दूसरे से ग्रहण की ।

यह आरोप आकस्मिक नहीं हो सकता, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है । कारण यह है—दोनों सम्प्रदाय एक ही समय में पल्लवित हो रहे थे । एक सम्प्रदाय के व्यक्ति दूसरे से अपरिचित नहीं थे । श्री वल्लभाचार्यजी कृष्ण चैतन्य से मिले ही थे । विद्वत्सनाथजी के समय में रूप सनातन मधुप-वृन्दावन में थे ही । (देखो कृष्णदास की वार्ता अष्टछाप में) । वरन् पहले श्रीनाथजी की सेवा बंगासी वेण्णव ही करते थे । वार्ताकार ने उनकी बुटिया में किसी देवी की मूर्ति का उल्लेख कर उन्हें शक्त प्रकट किया है पर शक्त को महाप्रभु वल्लभाचार्य कभी श्रीनाथ की सेवा नहीं सौंपते । दोनों सम्प्रदायों का मूल स्रोत भ्रम की स्थापना की प्रस्थानत्रयी और भागवत ही मानी जायगी । उसके आधार पर सत्सीमाय का आरोप होना समझ प्रतीत नहीं होता । इस भाव का किसी प्रकार उदय हो जाने पर उसके विकास और वृद्धि के लिए तो इनमें से बहुत सामग्री मिल सकती है ।

पर मूलभाव का इस प्रकार उदय इन मूल स्रोत धर्मों से नहीं हो सकता था कि एक पुरुष सत्ता भी हो सकता है तथा सत्ता भी । तब सम्प्रदाय की आन्तरिक आवश्यकताओं में ही इस भाव के होने के बीज मिल सकेंगे ।

चैतन्य सम्प्रदाय में यह भाव्यता है कि महाभाव राधा के भाव को लेकर ही कृष्ण ने चैतन्य का अवतार ग्रहण किया । यही कारण है कि हमें चैतन्य महाप्रभु के जीवन में ऐसे स्वरूप मिलते हैं जबकि उन्होंने भावातिरेक और भावावेश में बिखल हो अपनी सुधि विसरा दी है । उनमें इसलिए भावपल्ल की प्रधानता थी । वत्सल सम्प्रदाय में वत्सल को ठाकुरजी और स्वामिनीजी से अलग माना है तब भी वत्सल के जीवन में हमें वह भावावेश नहीं मिलता आचार्यत्व और सिद्धवाक्यतित्व मिलता है । वार्त्ताकार ने परमानन्ददास की वार्त्ता में एक स्वरूप पर थी वत्सलमाचार्य के विसुष होने का उल्लेख किया है ।

'तब परमानन्ददास अपने मन में बिचारे जो—या समय श्री आचार्यजी की मन ती बजलीला में थी गावर्धननाथजी के पास है । तारीं विरह को पद गाऊ जामें एक-एक क्षण कल्प समान जाय । सो यह —

राग सोरठ—'हरि तेरी लीला की सुधि आवै'

यह पद परमानन्द ने गाया । सो यामें यह कहें जो—'हरि तेरी लीला की सुधि भाव सो ताही समय श्री आचार्यजी आपु लीला में मग्न हो गए । जो तीन दिना लों श्री आचार्यजी को मूर्छा रही' ।

इस प्रकार की किसी घटना का उत्प्रेत वत्सल चरित्र के सबसे प्रमाणिक लेखक कवि गदाधर ने 'सम्प्रदाय प्रदीप' में नहीं किया । किन्तु यदि इसको विनोद महत्त्वपूर्ण न भी माना जाय तो भी ऐसी घटना आचार्यजी के जीवन में अनोखी अपवाद स्वरूप ही मानी जायगी । फिर यह मूर्च्छा भावावेश के कारण नहीं, रस के आनन्द से उत्पन्न होने वाली नहीं, समाधि की भाँति आत्मा के आध्यात्मिक स्वरूप में अपनी रहस्य लीला में मग्न होने के कारण है इसमें असौबिधत्य है । एव अन्तर यह भी है कि चैतन्य महाप्रभु अपने उद्योग से कीर्तमाधि करते हुए भावरत होते थे । वत्सल महाप्रभु भक्त के कीर्तन से स्मरण के द्वारा वह समाधि-याग प्राप्त करते थे ।

इसी का परिणाम हमें यह मिलता है कि वल्कल सम्प्रदाय का समस्त प्रमुख पद-साहित्य पुष्कट भाव-योग का साधन नहीं रहा यह सेवा प्रणाली में कीर्तन-नाम से एक अङ्ग भाग रह गया है। सम्प्रदाय में जैसा विधान है विशेष सेवार्थों के अवसर पर विशेष कीर्तनों का प्रवचन किया जाता था और वे कीर्तन इसीलिए ठाकुरजी के लिए उन्हें रिझाने और प्रसन्न करने के लिए होते हैं भक्तों को भाव विह्वल करने के लिए नहीं।

चतन्य सम्प्रदाय की भाँति वल्कल सम्प्रदाय में भी गोपीभाव को प्रधानता दी गयी है उनके प्रेम को खेप्ट माना गया है। उस प्रेम की चाह भी तोय रूप में इस सम्प्रदाय में उपस्थित है। परन्तु यह प्रेम भावुकतापूण उत्तना नहीं जितना अन्तर्गत और निजी है। साथ ही इसका उद्भव भगवत्-अनुग्रह पर निर्भर करता है। वह अनुग्रह मुह के द्वारा कृष्णार्पण होकर मिरन्तर गोपीभाव से सेवा करने से ही मिले तो मिले। फलतः यह प्रेम भी प्रेमालस्यता की कोटि का होते हुए भी साम्प्रदायिक प्रणाली पर निर्भर करता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति का रस के रूप में इतना प्राथम्य वल्कल सम्प्रदाय में नहीं मिलेगा जितना चैतन्य में।

भक्तिरस का जैसा विस्तृत विवेचन और निरूपण चैतन्य सम्प्रदाय में हुआ है सभी जानते हैं उत्तना किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं हुआ। रस पर अत्यन्त सूक्ष्म गम्भीर विवेचन करने वाले और उनकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले धन्य इसी सम्प्रदाय की अवधानता में लिख गये हैं।

बंगाल में चतन्य महाप्रभु से पूर्व सहजिया सम्प्रदाय का भी प्रचार था। सहजिया सम्प्रदाय विविध मतों का मिश्रण होते हुए भी वैष्णव धर्म की राधा-कृष्ण रति पर विशेष केन्द्रित प्रतीत होता है। यह राधा-कृष्ण की रति आध्यात्मिक जगत की वस्तु है परन्तु उसके लिए प्रेम की अत्यन्त तीव्रता की आवश्यकता है। परकीया प्रेम की तीव्रता के लिए इस प्रेम-योग के लिए यथार्थ एक परकीया-स्त्री या मञ्जरी की आवश्यकता मानी गयी। इस सम्प्रदाय में इसी आध्यात्मिक ध्येय की प्राप्ति के लिए, परकीया प्रेम को उत्कृष्ट और उत्तेजित करने के लिए काम-शास्त्र आश्रित विविध हार्दिक प्रेम काव्यों का उद्गार हुआ। इसके प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। चण्डीदास और बिद्यापति ही

महीं, जयदेव के वे अमर पद जिन्हें सुनकर चैतन्य महाप्रभु भाव बिमोर हो जाते थे सहजिया सम्प्रदाय से प्राप्त उन्मेष से नहीं बच सके हैं । इस प्राग्तीय भाव धारा के फलस्वरूप चैतन्य में हमें वह भावातिशय मिलता है । बल्कभाचार्यजी के प्रचार-क्षेत्र में ऐसा कोई भाव इतना उत्कट नहीं था । अतः चैतन्य सम्प्रदाय में गोपीभाव चरित्र का भग बना बल्कभ में वह साधना का भग बना ।

इस विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि चैतन्य सम्प्रदाय के निजी स्वरूप और क्षेत्र में वे तत्त्व प्रस्तुत थे जो भक्त को गोपीरूप में भक्ति के लिए नियोजित करते थे । राधा के महाभाव का अनुभव करने के लिए जिन बारह रस-तरङ्गों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे रस लोक में सहज ही राधा की सखियाँ बन सकती थीं । उस रस में ही शृंगार की रति के परिपोषण के लिए विविध दास-दासियों और दूतियों की आवश्यकता होती है । इनको ही बङ्गाली वैष्णव सम्प्रदाय ने मजरी नाम दिया, और सहजिया ने बामाचार के लिए इस मजरी का नाम रूपवाली परबीया-रुची बना लिया ।

अतः बल्कभ सम्प्रदाय में पुरुषों के गोपी नाम रखे जाने से पूर्व यह प्रथा चैतन्य सम्प्रदाय में प्रचलित हुई होगी । गोस्वामी बिठूरनाथजी ने अपने सम्प्रदाय को दृढ़तर बनाने के लिए अपनी बंगाल-यात्रा के बाद इसकी उद्भावना की होगी वही गोकुलनाथजी से पल्लवित हाती हुई हरिरायजी और द्वारिकेशजी के द्वारा पूर्ण हुई । इस सम्प्रदाय के मेधावी नियामक ने उस रूप को लेकर उसका भावात्मक तत्त्व तो निकाल दिया साम्प्रदायिक रूप रहने दिया जिससे विविध भक्तों गोमाइयों तथा आचार्य जी में परस्पर आध्यात्मिक सम्बन्ध सहज हो सके और उनके कृत्यों की आध्यात्मिक व्याख्या हो सके ।

‘अष्टछाप’ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

वास्तविक साहित्य की सृष्टि उन्नतमना प्रतिभाओं के द्वारा ही होती है। किसी कवि का अध्ययन करते ही हमें इस प्रतिभा का प्रकाश मिलता है। जहाँ बानावरण में स्वच्छन्दता नहीं वहाँ कवि नहीं पनप सकता। और ऐसा कवि जो युगान्तर उपस्थित करने वाला हो वह तो कभी भी नहीं पनप सकता। किसी के इशारे से काव्य रचना करने वाले कभी उस आदर के पात्र नहीं हो सकते जो सूर और तुलसी को मिला है। शेक्सपीयर मीठा और कड़वी समानोचनाओं के होते हुए भी आज तक ससार को प्रभावित किया हुए है। जेप्रेजो के जीवन में शेक्सपीयर और बाइबिल में से किसका अधिक प्रभाव है, इसे कौन ठीक-ठीक बता सकता है। धार्मिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जान अथवा क्रान्ति उपस्थित हो जाने पर बाइबिल का महत्व घट अथवा बढ़ सकता है। किन्तु मानव-स्वभाव में जब तक मानवीय स्वभाव रहेगा शेक्सपीयर कभी अक्षिकर नहीं हो सकता। अपनी इतनी नवीनताभा के साथ भी यह नया युग कोई ऐसा साहित्य नहीं रच सका जो शेक्सपीयर को स्थानभूत कर सके।

सारी मौखिक समृद्धि और वैभव से ऊपर वह कवि है जो स्वयं अमर होकर आतीत भूतना और जातीयता को भी सुरक्षित रख सकता है। ऐसा कवि समय के प्रभाव से साधारण रूप से अधूता रहता है। समय का रंग भी सब काल को वस्तु होकर उपस्थित होता है। अतः सामयिकता भविष्य का इतिहास बन कर और मृत की दिव्य-कल्पना बनकर काव्य में प्रवेश पाती है।

सुरुसीदास के रावण में हम मुसलमानी घासकाँ को देख सकते हैं। सन्ता को बाँट देने उनके भाग छीन लेने में हम हिन्दुओं की तरकाशीन दयनीय दशा को पढ़ सकते हैं। ‘भगवि, भूमि, मुसुर,

सुरभि, सुर हित प्राणि कुपाल मुसलमानों के अत्याचारों से कौन पीड़ित न था ? भक्तों को अपनी चिन्ता थी । उनकी आराधना का साकार स्वरूप भीषण गवाओं से छिन्न भिन्न होकर जीवन को सङ्कटापन्न बना रहा था । रोज रोज के राज-परिवर्तन राज-बदल, युद्ध-निमग्न से भूमि की दुःखता थी । उसमें धान्य और शस्य पैदा करने का अवसर ही न था ।

प्रजा के लोग मयरा की भाँति यह विचारने लगे थे—

‘बोठ भूप होइ हमहि का हानी

घाहणों की आर्तकथा कौन कहे ? उनकी पाठशाखाएं नष्ट भ्रष्ट कर दी गयीं । चोरों की भाँति अपन घर ही में उन्हें अपना अध्ययन-अध्यापन करना पड़ता था । गायों की भी वहाँ कुछल थी ? देवताओं के लुप्त होने का भय था ।

पीरा पयगवरा दिगंबर विसाई देत

इसमें अस्थिरयोक्ति को कितना स्थान है ? इन सब पंक्तियों में समय का दर्शन है । किन्तु यह शाश्वत की वस्तु होकर आया । कब किसी वस्तु को सामयिक महत्त्व अथवा किसी प्रेरणामात्र से ग्रहण नहीं करता । फिर मुसलमानी काल के वैष्णवों का बातावरण ही और प्रकार का था । उनसे ऐसी कभी आशङ्का नहीं की जा सकती कि वे कभी किसी के इशारे पर भाँचेंगे । फिर विधर्मियों के इशारे पर तो भाँचना उन्हें एक दम असह्य था ।

इतिहास को ठीक न समझ सकने वाले को भ्रम का बहुत अवकाश रहता है । अनेक बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में भ्रम है और यह सब इतिहास का ठीक ज्ञान न होने के कारण है ।

यह कहना कि थूङ्गार रस की रचना हिन्दी में अकबर अथवा अन्य किसी राजा या शाहशाह के इशारे के कारण हुई, इतिहास के बहारे की भी ज्ञान दृष्टिसे बतलावेगा और उसमें भी राजा का कोई राजनीतिक मस्तब्य बूझना तो महान् अनर्थ होगा । थूङ्गार रस सूरदास अथवा मन्वदाम की कृति नहीं । पुराने भारत में इसका अस्तित्व मिलता है । बालिदाम तो अकबर अथवा मुसलमानी काल में नहीं हुए ? दाबुन्तया जैसी विगुड प्रेम को दिव्य मूर्ति को थूङ्गार का मूर्त मोहक और नग्न आत्ममय उन्होंने बना लिया तो क्या हिन्दुओं का मुसलमानों का गुलाम बनाने के लिए अथवा उनमें बाधरता भरने के लिए ? अब मूर्ति में मालती

और माधव की कल्पना भी सम्भवतः इसी मन्त्रमय से की थी । और आज रवीन्द्रनाथ भी ससार को क्या नपुंसक बनाने का आयोग्यन कर रहे हैं ?

शृङ्गार रस की रचनाओं का विरोध किसी सिद्धान्त की दृष्टि से करने का सबको अधिकार है किन्तु उसकी रचना करने वाले पर कोई अनुचित दोष स्नाना और अप्रामाणिक बात कहना असम्भव समझा जाना चाहिए । सूरदास और 'अष्टछाप' के कवियों ने राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में शृङ्गारिक रचनाएँ कीं वे रचनाएँ उनकी कवि-कल्पना और धर्म-संदेश की प्रेरणा से थीं । उनमें समय का उतना भी दिग्दर्शन नहीं जितना तुलसीदासजी में । 'अष्टछाप' के कवियों के लिए कृष्ण का कर्त्ता रूप महत्त्व नहीं रखता । वे कस को मारते हैं तथा अन्य राक्षसों को मारते हैं यह उनके काम की चीज नहीं । उनके इस सहारक रूप का भाव उनके उदात्त स्वभाव को बल भले ही प्रदान करता हो परन्तु उनके लिए गौण है । तुलसीदास ने गवण के अत्याचारों और मूर्खता का चित्र खींचा है उसमें कुछ तत्कालीन आभास मिल सकता है किन्तु बंस ने क्या किया इसका वर्णन करने का अवसर सूरदास अथवा 'अष्टछाप' के कवियों को नहीं था । वे तो कृष्ण की लीला को ही अपने सामने रखते हैं । लीला का भी बहू भाग जो मधुर और प्रिय है ।

यहीं एक बात का पता लग जाता है कि तुलसीदास के राम मानव-जीवन के आवर्ष से बहुत कुछ ऊँचे उठकर आते हैं । वे वन-अञ्जल में भी राजा की तरह विचरते हैं । राम में मानव-जीवन का प्रत्येक पहलू और उसका महत्त्व हमें मिल सकता है किन्तु उसमें व्यापकता नहीं । कृष्ण हमारे सामने बिल्कुल हमारे होकर आते हैं । उनकी बाललीला को पढ़कर हम अपने बालकों में कृष्ण का अनुभव करने लगते हैं । घड़ होन पर हम अपने हृदय की उदात्त भावनाओं में राधा-कृष्ण का आकषण अनुभव कर सकते हैं । कृष्ण इस प्रकार मानव-जीवन में व्यापक हो गये हैं ।

परमानन्ददासजी ने एक पद रचा और उसमें यह धारण रखा—

‘परमानन्ददास की ठाकुर पिस्लनि लायी घेरि ।’

इसमें निश्चय ही कोई दिव्यता अथवा स्वभाव-चित्रण या मार्मिकता न थी। यह पत्र मष्ट करा दिया गया। परन्तु इससे एक बात कितनी स्पष्ट होती है। अष्टछाप के कवियों का या कितना आग्रह था कि वे जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में उसी भगवा को भर दें। उन्हें पारा धोर उनका सजीव चतुर और सजीव कल्प दिसायी पड़ता है। उनकी इस अनन्यता को कोई मृत घतसाये तो बता सकता है। किन्तु यह कहना कि उसमें काम्य की प्रेरणा किसी राजनीति के सूत्र-धार के कारण भी कभी ग्राह्य नहीं है।

मुसलमानों के दरबार से किसी भी अष्टछाप के कवि का सम्बन्ध नहीं रहा था। उन्हें अपने कृष्ण और कीर्तन गान से छट्टी ही बन्ध थी। कृष्ण का एव लक्ष्य के लिए भी विस्मृत करना उनके लिए पाप था। ऐसा था बैष्णव कवियों का आतावरण। वह मकदूर के समय तक बहुत घनिष्ठ हो गया था।

व्यास मिथ बहुलोल सोदी के कृपा पात्र थे। उन्हें पार हजारी का मनसब मिला हुआ था। उनके पुत्र भी हितहरिबन्धजी थे। हितहरिबन्धजी बाद में महाप्रभु हुए और राधावल्लभीय सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। बहुलोल लौदी ने भी हितजी को दरबार में बुलाया। मन्त्री भेजे गये। मन्त्री ने कहा—हितजी बलिये मुलतान आपके पिता के गुणों पर मुग्ध हैं वे आपको देखना चाहते हैं। बहुत कुछ देंगे। मन्त्री ने कहा—

कुंजर तुम्हें नृप दखी चाहें। व्यास मिथ के गुन अवगाहें ॥
पट भूषण धन दीहें मली। मनसब सेह नृपाति वी बसी ॥

हितजी जा सकते थे। उनके द्वारा लौदी कोई राजनैतिक कार्य भी नहीं कराना चाहता था जैसे राजा महाराजों को एक धुन होती है ऐसा ही एक धुन बहुलोल का हितजी के देखने के लिए उत्पन्न हुई थी। किन्तु एक मन्त्र के लिए यह बड़ी बात थी। हितजी ने क्या कहा ?

कुंजर कही तब मधुरी यानी। बाल-प्रसिन्न सब बिरब बरानी ॥
ब्रह्मसोक लौ मखर जानी। नृप सम्पति की कौन कहानी ॥
लोदियों ने यान् मुगमा वा शासन भारत में हुआ। हितजी बाली भावना और भी परिपक्व होती जा रही थी। हितजी ने भी

जिस भावना से प्रेरित होकर वह उत्तर दिया था वह उनकी वैयक्तिक चारणा न थी। वह धर्म प्रसूत थी। यह चारणा सभी भावद् भक्तों में विद्यमान थी। सभी राजा और राजसत्ता से निरक्षत थे। अकबर के हृदय में एक धार्मिक जिज्ञासा थी। वह चाहता था कि मैं भारतीय हो जाऊँ। धर्म और साहित्य सभी में वह ऐसी वस्तु को खोज में था जो उसे ठीक मार्ग बता दे। उसने धर्मशास्त्रों से बार्तालाप किया, उसने सङ्गीतविदों से भेंट की और उन्हें सम्मानित किया। इतिहासज्ञ विद्वान और कवियों से वह सदा विरा सा रहता था। जिसका भी नाम उसके काम में पड़ जाता था उसको वह बुला भवता था। उसमें कुम्भनदासजी का बुलाया, किन्तु वहाँ फौन जाता।

सन्तन कहा सीकरो सौ काम ।

आगत जात पनहियाँ टूटीं बिसरि गयो हरि नाम ॥

ऐसा स्थल तो त्यागने के योग्य है ही। मुरदासजी का यश उनके सङ्गीतविद होने के कारण विरोध था। सङ्गीत में उनके शतश शिष्य थे। उनके कारण मुरदास की स्मृति फँस रही थी। इन्हें भी अकबर ने बुलवाया। अनिच्छापूर्वक मुरदासजी गये। अकबर प्रसन्न हुआ। उसने कुछ सुनने की अभिलाषा प्रकट की। मुरदास देव, मतिराम, पद्माकर केशव तो थे नहीं। अकबर सम्राट् क्यों, सत्तार का स्वामी मने हा, उन्हें आतङ्कित नहीं कर सकता था।

ऊँची और गोपियों के बहाने ज्ञान और भक्ति का जो विवाद भ्रमरगीत में है, उसमें गोपियों से किसने ऊँची को यह बताते नहीं सुना —

ऊँची मन नाही बस बीस ।

एक हुतो सो गयी स्याम संग की जाराधै ईस ॥



और

ममूकर मत तो एकै आहि ।

सो तो मैं हरि सङ्ग सिधारे जोग सिखावत काहि ।



ऊँची मन माँहि हाथ हमारे,

⊙

⊙

⊙

जो भक्त गोपियों की तरह अपना मन दे चुका हो जिसके पास अपना कुछ भी न हो वह भला कब किसके प्रभाव में आ सकता है । वह तो अकबर के सामने भी सूरदास की तरह यही कहेगा ।

मना रे, तू करि माधव सौं प्रीति ।

काम क्रीड मद लोभ मोह तू छाड़ि सब बिपरीत ॥

भौंग भोगी बन भ्रमे मोद न माने ताप ॥

सब कुसुमनि मिलि रस करै, कमल बँधावै आप ॥

सुनु परिमित प्रिय प्रेम की, पातक चितवन पारि ॥

घन-आधा सब दुख सह, अन्त न आवे वारि ॥

देखी करनी कमल की कीनी जल सौं हेत ।

प्राण तग्यी प्रेम न तग्यी सूख्यी सरि समेत ॥

मीन बियोग न सहि सकै, नीर न पूछ बात ।

देखि जु तू ताकी गतिहि रति न घटे तन गात ॥

प्रीति परेवा की गिनी चाहै चढ़न अकास ।

सहै चढ़ि तीय जु देदिए, परत छाड़ि उर स्वास ॥

सुमिर सनेह कुरङ्ग की लवमनि राख्यी राग ।

धरि न सकत पग पछमर्ना सर सनमुख उर लाग ॥

⊙

⊙

⊙

बीगसी दीणवों की वार्ता में लिखा ह —

“यह पद देवाधिपति के आगे सम्पूर्ण करिके सूरदासजी ने गायी सो यह पद कैसे है जो या पद नौ अहमिस ध्यान रहे तो भगवदनुग्रह की सदा साति रहे और ससार ते मदा वैराग रहे और कुरङ्ग की सदा भय रहे और भगवनीय के सङ्ग की सदा चाह रहे और श्री ठाकुरजी के चरणारविन्द ऊपर मदा स्नेह रहे देहादि के ऊपर आसक्ति न होय । ऐसी पद देवाधिपति को सुनायी सो सुनिके देवाधिपति बहुत प्रसन्न भयो और कहाँ जो मूरदास मोकों परमेश्वर ने राज धामों ह सो सब गुनिजन मेरी जस मानत हैं ताते मेरी जस बछू गावी तब मूरदास न यह पद मायों सो पद—

इस पद को सभी जानते हैं ।

महिंन रह्यो मन में ठौर ।

नन्द मनन अछत कैसे आनिये सर और ।

वसत विसवत दिवस आपत सुपन सोवत राति ।

हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत-उत जाति ।

कहन कथा अनेक ऊषी लाख सोम बिसाह ।

कहा करौं बिठ प्रेम पूरन घट सिधु समाह ॥

व्याम गात सरोज आनन सलित गति मृदुहास ।

सूर ऐसे दरस कारन मरत लोचन प्यास ॥

इन पक्तियों का कहने वाला कवि क्या कभी किसी के इशारे पर नाच सकता है ? केवल कण्व का इशारा उसके लिए है— और किसी की बात में ऐसा व्यक्ति आने का नहीं । सूरदास में हम वही हितजी वाली भावना इस प्रकार प्रतिफलित होते देखते हैं ।

कण्व मुसलमानों की सृष्टि न थे राम को भी उन्होंने नहीं बनाया था और वैष्णव धर्म के नये उत्थान की प्रस्थानत्रयी का महाम स्तम्भ 'भागवत' भी मुसलमान काल से बहुत पहले निमित्त हो चुका था । भक्ति का प्रादुर्भाव वैदिककाल में भी झलकता है । वरुण के सम्बन्ध में लिखी गयी डाक्टर राधाकृष्णन की ये पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

'यदि भक्ति का अर्थ हो व्यक्तिमय ईश्वर में श्रद्धा उसके लिए प्रेम, उसकी सेवा में सब कुछ समर्पण और मोक्ष—वैयक्तिक अनुरक्ति से भक्ति की प्राप्ति तो निश्चय ही ये सभी तत्व हमें वरुण की उपासना में मिलते हैं ।

वरुण की व्याख्या करते हुए आगे आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं ।

भक्ति के गौरव से युक्त वैष्णवों और भागवतों का देववाद, पाप की चेतना और दैवी क्षमा विश्वास के साथ-साथ, वरुण की वैदीय उपासना में मिल सकता है ।

प्राफेसर मैकडोमोस्ट का कथन है कि 'वरुण का चरित्र उन्नत कोटि के एकदेवानुवर्ती विश्वास के दिव्य दासक के समकक्ष है ।

वरुण की यह भक्ति बिष्णु में कैसे परिवर्तित हो गयी, यह भी अर्थवेद क मंत्रों से स्पष्ट हो जाता है । इनमें बिष्णु और वरुण

को साथ-साथ रखकर फिर दोनों को एक कर दिया गया है ।

ययौ रोज सा स्वभिता रजासियौ वीर्यज्जोर समाद्य बिष्ठा यौ
पत्येते अप्रतीतौ सहोभिबिष्णुमगन् वदनं पूर्बहृति ७-२३ ।

यस्येव प्रदिशि यद् विरोधते प्रबानति बिचषाष्टे शचीमि
पुरादेवस्य धर्मणा सहोभिबिष्णुमगन् वदनं पूर्बहृति ७-२४ ।

राधा का जन्म अष्टछाप से पूर्व हो चुका था । जमदेव और बिष्वापति की रचनाओं में राधा को एक जन्मपूर्व रूप में दिया था । जब तत्काल सभी सामग्री पहले से उपस्थित थी तब अष्टछाप के कवियों ने अकबरी दरबार के इशारे पर कौनसी बातक रचना रखी ? ऐसे अममूलक और निराधार कथनों का हमें प्रयत्न न करना चाहिये । यह उन कवियों के साथ अत्याचार है जो ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देने नहीं आ सकते । हम उनकी सृज्जात्मिक रचनाओं को बातक समझते रहें यह उनकी रचना को अपनी दृष्टि से ठीकना है इसका प्रत्यक्ष को अपनी धारणा के अनुकूल विचार है । किन्तु किसी ठग्य को कुछ का कुछ रूप लेकर प्रस्तुत करना और इस प्रकार निराधार मपोढ़े का सहारा किसी के प्रति गुना घेसाने का कार्य असम्य और गहिष्ठ समझ जाना चाहिए ।

अष्टछाप और सूरदास पर अकबरी दरबार के इशारे पर कर्म करने के बोध की कल्पना एक और बात पर आधारित हो सकती है । सूरदास अकबर के दरबार में गये थे । इसका प्रमाण थोड़ासी वेष्मकों की वार्ता से भी मिलता है—और इसका अभिप्राय केवल इतना ही हो सकता है जितना कि महात्मा गांधी का सम्झाट जार्ज पंचम से मिलने का । क्या वे सम्झाट के इशारे पर अपने कार्य कर रहे थे ? ऐसा सोचना हमारी युक्तिमत्ता का दिवाला ही मूर्खित करेगा । सूरदासजी अकबरी दरबार से प्रतिष्ठित सम्वास के पुत्र थे अथवा नहीं यह प्रश्न अभी विचारणीय ही है । इस पर विचारता फिर कभी किया जायगा । किन्तु इसके होते हुए भी सूरदास की किम मन स्थिति का चित्र ऊपर दिया गया है उससे वे दरबार से प्रभावित होने वाले कभी नहीं कह जा सकते । हितहरिकृष्णजी के पिता भी बहुशोक सादी द्वारा सम्मानित थे । उनकी प्रतिष्ठा भी उनके यहाँ थी फिर भी हितहरिकृष्ण पर उसका कुछ प्रभाव ही पड़ा । प्रतिमा श्यामी रचना के लिए अपने अम्बर ही रस प्राप्त

करती है । बाह्य जगत् अपनी सारी सत्ता के साथ प्रतिभा में पच कर समय, समाज अथवा नीति के प्रभाव से युक्त होकर अमर और अलौकिक वस्तु बनकर निकलता है । सूरदास और अष्टछाप की रचनाओं में जिस मनोरम भावों और कल्पनाओं का भण्डार है मनुष्यों के लिए कभी अहिंसकर न है न हो सकता है ।

अष्टछाप में सूरदास

अष्टछाप हिन्दी की अष्टधातु की मुद्रा है। इसीलिए इसकी छाप हिन्दी पर बहुत गहरी है। यह अष्टछाप ही है जिसमें साम्प्रदायिक भूमिका पर शुद्ध मानव का महान कबित्व, कला का उदय उत्कर्ष, और ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ साश्वत शिवत्व का अर्पण सभी कुछ तो हिन्दी में सम्भव और सिद्ध हुआ है। गोस्वामी विठ्ठलमाध की उस महान प्रतिमा को धडाञ्जलि समर्पित करनी पड़ती है जिसने अष्टछाप के महान भाव की उद्भावना की और जिसने उस अष्टछाप में सूरदास जैसे महाकवि को शिरामणि स्थान दिया था।

सूरदास महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक हैं। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय है। सूरदासजी गळघाट पर रहते थे। यह स्थान आगरा-मथुरा के बीच रेणुका-क्षेत्र के पास है। सूरदास सङ्गीत विद्या में पटु थे। उनके कितने ही शिष्य थे। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने यहीं घीघाट पर इन्हें अपने धर्म में दीक्षित किया। ये महाप्रभु के साथ गोवर्द्धन गये और वहीं परासौली अथवा चन्द्र सरोवर में रहने लगे। महाप्रभु ने इन्हें श्रीनाथजी का प्रधान कीर्तनियाँ बनाया। अब सूरदासजी नित्य नवीन पदों की रचना कर मन्दिर में कीर्तन करते थे।

वल्लभाचार्यजी की मृत्यु के उपरान्त गोस्वामी विठ्ठलमाधजी ने अपने सम्प्रदाय के आठ महाकवियों की एक अष्टछाप बनायी और उसमें सूरदास को प्रधान स्थान दिया। सूरदास ने मूंगसामर की रचना की। इनकी मृत्यु गोस्वामी विठ्ठलमाधजी की उपस्थिति में चन्द्र सरोवर में हुई।

ये महाप्रभु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। अतः इनका जन्म बीसाल सुवर्ण २ मङ्गलवार सं० १५३५ को हुआ।

सूरदास के जीवन वृत्त सम्बन्धी अन्य बातें अभी विवादास्पद हैं। विद्वान लोग खोज कर रहे हैं। विवादास्पद बातों में वृत्त का यह भाग आता है —

सूरदासजी का जन्म सीही में हुआ या अन्यत्र ? सूरदास जन्माश्व ये या नहीं ? सूरदास बल्लभाचार्य के शिष्य होने से पूर्व किसके शिष्य थे ? सूरदास भाट था या सारस्वत ब्राह्मण या जाट या दाढ़ी ? सूरदास की भेंट अकबर से कब और कहाँ हुई ? सूरदासजी ने अपना घर क्यों छोड़ा कब छोड़ा ? गौभाट पर क्यों आकर बसे ? सूरदास के नाम से जो अथ ग्रन्थ प्रचलित हैं सूर साराबसी, साहित्य लहरी भागवत भाषा सूर रामायण आदि में किनके लिखे हैं ? उन्होंने एक लाख पद लिखे अथवा कम ?

सूरदास का जीवन वृत्त कितना ही अनिश्चित रहे उनका महाकाव्यत्व सुनिश्चित है। उनके काव्य में युग और युग-युग दोनों की प्रतिभा का समावेश है। युग प्रतिभा सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए साहित्य प्रस्तुत करती है। सूरदास का जन्म उस युग और उस काल में हुआ था जिसमें भारत से जातीय जीवन के प्रदीप का स्नेह समाप्त हो चला था। पाँच शताब्दियों का भीषण संघर्ष उसमें जीवन के प्रकाश को अपने सांस्कृतिक स्वरूप को और अपने जीवन के गौरव को बूढ़ और उत्पित रखने में वैफल्य। ऐसी अवस्था में क्या हो ? दुःख, वेदना और विरक्ति ही जातीय जीवन की मनोवृत्ति के मर्म थे।

कोदों समा जुरती भरि पेट सो माँगती हों नहीं दूध मिठौती
सषा

जा घर से कबहूँ न गयो पिठ फूटो सब और टूटी कठौती

यह नरोत्तम कवि के शब्दों में सुदामा-मल्ली की ही पुकार नहीं थी, भारतीय जन का यही स्वरूप था—

सीस पगा न भगा तन में और पाँय उपानह की नहिं सामा।

ऐसी दुरवस्था के साथ भारतीय जीवन निर्वीर्य हो निराश हो, विरक्ति की अभिव्यक्ति सुलसी की मन्थरा के शब्दों में यों करता था—कोठ मूप होठ हमहि का हानी। खेरि छाड़ि का होठब रानी।

इन मनोवृत्तियों के मूल में ऐतिहासिक कारणों के निरूपण

की आवश्यकता है । सूरदास के समय की परीक्षा से हमें जातीय जीवन के आन्तरिक संघर्ष और बाह्य संघर्ष दोनों का जो रूप प्राप्त होता है वह यह है—

जातीय जीवन के आन्तरिक संघर्ष में हमें सबसे प्रमुख मायावाद का मोर्चा मिलता है । शंकर मताश्रित अद्वैतवाद ने विद्वत् को माया से मिथ्या बना दिया था । उनके उपरान्त जितने भी सम्प्रदाय आत्म-कल्याण के लिए प्रचलित हुए उनमें जगत मिथ्या का सिद्धान्त अति प्रबल था । योगी, नाथ ज्ञानवादी सभी ससार त्याग और मिथ्यात्व का सन्देश सुना रहे थे । कबीर के ये शब्द इस युग के सगमग चार सताब्दियों के गम्भीर युग के शब्द हैं—

माया महा ठगिनि हम जानी ।

महाप्रभु बल्लभाचार्यजी जिस कान्ति के एक प्रचेता हैं वह कान्ति मायाबाध विरोधिनी थी माया विरोधिनी नहीं । बल्लभाचार्यजी ने अपनी दिग्विजय में शक्ति, माया और बेहान्ती शस्त्रों से माया का ही खण्डन कर मिथ्यात्व को धराशायी किया था । जगत की मयार्वत्ता का प्रतिपादन कर इस जीवन में आत्मा पैदा करना उनका धर्म था ।

उस काल से सूर ने सीसा के रस का प्रवाह बहाकर मिथ्यात्व की ओर से ध्यान हटा दिया ।

माया के इसी मिथ्या स्वरूप के साथ सगुण और निगुण का प्रश्न जुड़ा हुआ था । साहित्य में सूर से पूर्व निर्गुण की प्रतिष्ठा बड़े प्रयत्न और बल से की गयी थी । अविगत अमल, अरूप, अनाम निराकार को लेकर सन्त और सुफियों ने अपनी बाघी के रस से सान-सम्बूरे की खनक के साथ पर्वों का सज्जीत जन-जन में भर दिया था । इस निर्गुण का लेकर कबीर प्रभुसि सन्तों ने राजनीतिक संघर्ष को भी सुलझाना चाहा था पर राजनीतिक समस्या में सांस्कृतिक और धार्मिक गुत्थियाँ थीं । वह यों क्यों सुलझता ! सभी मिथ्यात्व के विरोध के साथ इस निराकार का भी विरोध हुआ । सूर ने गाया —

अविगत गति कुछ कहत ॥ भावै,

ज्यों गुंनेहि भीठे फल कौ रस अन्तरगति ही भावै ।

परम स्वाद सब ही जु निरतर अधिक तोष उपजावै ॥

रूप रेख गुण जाति जुगुति विन निरालम्ब मन पडुठ घाबै ।
सब विधि अगम विचारहि तासों सूर सगुण लीला पद गाबै ॥

मिथ्यावाद और निर्गुणोपासना के ज्ञानवाद ने जातीय जीवन की जड़ को ही सुखा दिया था । साधारण जन को ब्रह्म-प्राप्ति तो दूर अपनी असमता से मुक्ति प्राप्ति का भी अधिकार नहीं रह गया था । ज्ञान की कुटिल और जटिल पगडंडियों में चले बिना मुक्ति भी असम्भव और शक्ति भी असम्भव । जन जीवन की छटपटाहट और निर्जीव पगुता उस समय और भी मोपण और कूर हो जाती है जब ऐतिहासिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी अवसाद हो । कबीर ने घट घट में मन्दिर स्थापित करने की चप्टा की पर वही उनके देवता की मूर्ति न बैठ पायी । निराधार के आधार पर एक छाया वहाँ जन-मानस में छा गयी । सूर की बाणी इन परिस्थितियों के ब्याप को सहन न कर सकी और वह विकल होकर साकार कृष्ण और उसकी लीलाओं को बतार लायी । अब घर घर में कृष्ण की रत्न मुन रत्न मुन सुनायी पढ़ने लगी और कृष्ण घर घर में क्रीड़ा करते दिखायी पढ़ने लगे ।

किसकत कान्हू घुटुरुबनि आबत

मनिमय कमल मन्द के आंगन बिम्ब पकरिबे धावत ।

कबहुँ निरखि हरि बापु छाहुँ कों कर सो पकरन चाहत ।

किसकि हँसति राजति दूब दोँतियाँ पुनि-पुनि तिहि अवगाहत ॥

कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा एक राजत ।

करि-करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बठकी साजत ॥

बाल दसा मुख निरखि असोदा पुनि-पुनि मन्द बुलावत ।

अपेग तर सै छाँकि सूर के प्रभु को दूष पिपावत ।

महाकवि अपने महाकाव्य में अत्यन्त साधारण सामग्री को साधारण शब्दों के द्वारा ही अपनी कला द्वारा महत्ता प्रदान करता है । साधारण बालक की कीड़ाओं को लेकर उनमें कृष्ण की आत्मा सूर ने प्रतिष्ठित कर दी है । बालक की सूझ से सूझ चोप्टाएँ उसके मनोभाव उसके प्रति वास्तव्य भवका मार्मिक और विशद चित्र हमारे मानस में प्रतिफलित होमे लगता है । उसके काव्य ने फिर जन-जन के घर में प्रवेश कर प्रत्येक बालक को कृष्ण बना दिया । जिस तान-तोंबूर की ध्वनि कुछ समय पूब निगूण मिगकार के स्वर सुतासी थी उसी में साकार कृष्ण की ललित क्रीड़ाएँ

प्रतिध्वनित हो उठीं और उनकी मावक मुरली की ध्वनि गूँजने लगी ।

कृष्ण को लेकर इस महाकवि ने लौकिक में अलौकिक की स्थापना कर दी और युग की दृष्टि से एक महान् हस्त प्रस्तुत कर दिया । आशा का इतना महान् उत्साह उसने काव्य में भर दिया कि जन-जन की मुक्ति का भर्म दिखायी पड़ने लगा । यही सूर के काव्य में युग-युग का संदेश भी समा गया ।

सूर ने पहले ही बासकृष्ण की अपल क्रीड़ाएँ हमें दिखायीं । उनका बिशद रूप प्रस्तुत किया । उन्हें सजाव बनाया और उनमें हमारी मनोवृत्ति रमायी फिर धनै-धानै से सीसाएँ प्रेम की माधुरी से अभिमंजित होने लगीं । कृष्ण की मुरली से सृष्टि के अमर प्रेम का सबल सङ्गीत हठात् स्फुरित हो उठा—

बसी बस बान्ह बजावत ।

आइ सुनी लवननि मधुरे सुर राग रागिनी त्यावत ॥

सुर मुठि ताल बंधान अमित अति सप्त अतोत अनागत आवत
जनु जुग जरि वर बेध सजस मधि बदन पयोधि अमृत उपजावत
मनी मोहिनी बेध धरे हरि भुरली मोहन मुख मधु प्यावत
सुर नर मुनि बख किये राग रस अघर मुचा रस मदन जगावत
महा मनीहर नाद सूर बिर धर मोह मिलि मरम न पावत ।
मानहुँ पूष मिठाई के मुन कहि न सकत मुख सीस दुसावत ॥

यह बसी रस किसे विमोहित करने की सामर्थ्य नहीं रखता । गोपियाँ मृग्य हुईं विषय हुईं और प्रेम में गहरी उतर गयी । इस कृष्ण-गोपी प्रेम के संयोग वन का परमोत्कर्ष रास में हुआ —

छरद अतु की पूर्णिमा

बाजु निनि शोभित छरद सुहाई ।

सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई ॥

यमुना पुष्पिण पुमीत परम रुचि मँडली बनाई ।

राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहि कुँवर बँहाई ॥

और रास रचा गया । रास के वर्णन में कवि की अनुभूति का उत्कर्ष कितना महान हुआ है—

बिराजत मोहन महल रास,

स्यामा सुधा सरोवर मानों फीकत विविध बिलास ।
 मुकुट पदन्यास मन्द मलयामिल विगलित सीस निचोल ॥
 नील पीत सित असित ध्वजांचल सीर समीर झफ़ोर
 विपुल पुष्पक कचुकि बँव छुट हृदय अनन्द भये ।
 कुच युग भ्रूवाक अवनी तजि अन्तर रैनि गये ।
 दसन कुन्द दाहिम सुति दामिनि प्रगटत ज्यों दुरि जात
 अपर विन्द मधु अमी जलद कन प्रीतम बदन समात ।
 मिले कुसुम कवरी केसम से दूटत हैं उड़ु हार
 सरव जलद मनु मन्द किरन कन कहूँ-कहूँ जल भार ।

इन चरणों में शब्द और अर्थ की कसी सुन्दर सार्थकता है ।
 अलंकारों का उपयोग भावों को और चित्र को कितना उज्ज्वल
 बना रहा है ।

राधा और कृष्ण के प्रेम की विमोक्ष-पूर्ण ऐन्द्रिक गरिमा
 आह्लाद-मादकता और गति तथा तादात्म्य के साथ रास
 में परिपूजता पर पहुँच गयी है और यहीं कृष्ण ब्रज छोड़
 गये । प्रेम के अगाध सागर में एक लूफान आया और फिर
 अलख सम्मीरता । भ्रमरगीत में विरहित गोपियों के प्रेम की
 चाह नहीं मिलती । निर्गुण और सगुण के दार्शनिक विवाद का भी
 ऐसा मामला सरस और जीवनमय प्रतिपादन हो सकता है इसकी
 कल्पना भी सुरदास के भ्रमरगीत का आनन्द लिये बिना नहीं हो
 सकती । विरह की टीस हृदय की हूक विकल प्राणों की पुकार
 जैसे शब्द-शब्द में बिधी हुई हो । गोपियाँ मधुकर को छद्म कर
 कितने विपावपूर्ण शब्दों में अपनी विवशता, झानि और अपने
 अभाग्य को प्रस्तुत कर रही हैं—

मधुकर मो मन अधिक कठोर

विनसि न गयी कृष्ण काये ज्यों बिछुरत नख किशोर
 प्रेम बनिज कीन्हों हुतौ मेह नफा जिय जानि
 ऊधौ अब उल्टी गई प्राण पूँजि में हानि ।
 जो हम प्रीति रीति नहीं जानाति तो सजराज सजी ।
 हमरे प्रेम मम से ऊधौ मिलि रम रीति सजी
 हम से भभी जसचरी अपनौ मम निवाह्यौ
 जल्यो बिछुरि सुरत तन त्यागी सउ कुरु जल की आह्यौ
 अवरज एक भयी सुनि ऊधौ जल विन भीत रह्यौ

सूरदास प्रभु अवधि आस लागि मन निस्वास गझौ ।

रदन का काव्य विश्व में अनेक कवियों ने लिखा है । हिन्दी में भी इसकी एक दीर्घ परम्परा है । इस परम्परा में आधुनिक 'साकेत' 'यसोधरा' 'प्रिय प्रवास' आदि आते हैं पर सूर का अमरगीत काव्य की महत्ता में सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों के चित्र देने में और व्यंग्य वाग्वदम्ब में अद्वितीय है । कृष्ण गोपियों को फिर नहीं मिले—उनका विरह अनन्त हो गया तो क्या वे किसी और का अपना लें ? नहीं !

ऊषी मन न भये बस बीस

एक हुतो सो गयी स्याम सङ्ग को आराधै ईस ।

कृष्ण बाहर नहीं मिल सकते तो मन में तो वे हैं हीं । साकार को सगुण रक्तते हुए भी कवि ने उसे किस प्रकार मानस का आत्म-तत्त्व बना दिया है । इसमें युग और युग-युग का कौसा अद्भुत समन्वय है ।

सूर ने काव्य में जीवन के अन्तर-मर्म का स्पर्श किया है । उनके काव्य को आलाचकारों ने लोकरंजनकारी साहित्य में परिगणित किया है । पर क्या ऐसा कहना समुचित है ? क्या यह सूर के काव्य के मथार्थ अर्थ और महत्त्व को समझ कर कहा जा सकता है ? मन के प्रबलतम तत्त्व प्रेम को सूर ने ग्रहण किया । उसकी तीव्र अनुभूतियों को उसने मूर्त रूप दिया । मनोविदलेपण प्रतिपादित अवर्षित मन मानस की ग्रन्थियों को उसने प्रमाणित करने की सक्षम चपटा की युग चक्र से निगल मानव में पुनः आस्था स्थापित की । कृष्ण के अन्तिकारी चरित्र का काव्य में अमिनिवेश किया यह सब किस लिए किया गया ? मथार्थतः इस समस्त काव्य में आत्मीय जीवन के लिए एक महान सन्देश निहित या वस-वाम-जाति के लिए ही नहीं मानव मात्र के लिए । विद्वत् साहित्य में एक देन सूर का यह सूरसागर है जिसे पढ़कर यही कहना पड़ता है

कियों सूर को पण रगी उन मन घुमस सरीर ।

सूर के जीवन-वृत्त की कुछ चर्चा

महाकवि सूरदास के जीवन-वृत्त पर हमर कुछ चर्चाएँ हुई हैं। उन चर्चाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय में अभी शोध की बहुत आवश्यकता है। यहाँ पर किसी नयी शोध का चर्चा करना अभीष्ट नहीं यहाँ तो केवल उनके जीवन-वृत्त विषयक कुछ प्रश्नों पर संक्षेप में कुछ विचार दिये जा रहे हैं जिससे आगे के अनुसंधान के लिये ध्यान आकर्षित हो।

जन्म स्थान-सीही

सूर के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में कई मत प्रस्तुत किए गये हैं
१—आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुन वीर

पुन जनमे सात साके महामट गम्भीर
कृष्णचन्द उदारचन्द जो रूपचन्द सुमाह।

बुद्धिचन्द प्रकाश चौधो चन्द भी सुलदाह
देवचन्द प्रबोध, संभूत चन्द साको नाम,

भयो सप्तो नाम सूर न चन्द मद निकाम।

—साहित्य-सूरी

इससे सूरदासजी का जन्म आगरा के किसी 'गोपचल' में हुआ।

२—"मथुरा प्रान्त बिप्रवर गेहा"

भक्त विमोद मिरासिंह-वृत्त।

३—सीही (दिल्ली के पास) हरिरामजी का मावप्रकाश।

४—सीही (मथुरा) श्री राधाकृष्णदास।

५—रक्तता में एक कोठी आपकी यादगार है, जहाँ सूरदास ने सूरसागर लिखा—मौलाना निजामुल्ला पहाबी तथा—शाय

हैरामसुन्दरदास और डा० मुन्शीराम शर्मा, मुन्शीराय शर्मा इनकटा और गोपबल तथा गोपाट को एक ही मानते हैं। अतः तीन ही मत प्रमुख हुए—

१—इनकटा (गोपबल) गोपाट ।

२—मथुरा ।

३—सीही (दिल्ली वाली या मथुरा वाली) ।

पहले स्थान पर विचार करते ही यह प्रश्न उड़ा होता है कि क्या इनकटा, गोपबल और गोपाट एक ही हैं? इनकटा और गोपाट बिल्कुल पास-पास हैं इनकटा गाँव से रेणुका-क्षेत्र मील डेढ़ मील के लगभग होगा और रेणुका-क्षेत्र से गोपाट मथुरा की ओर यमुना किनारे एक मील के लगभग किन्तु क्या गोपाट और गोपबल एक हो सकते हैं? गोपाबल शब्द भाषा-विज्ञान के किसी भी नियम से गोपाट नहीं बन सकता। अब, हाँ सकता है उस काल में गोपाट का दूसरा नाम गोपबल रहा हो किन्तु इसका इतिहास से अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। गोपाट या गमुपाट का उल्लेख मुस्लिम इतिहासकारों तथा विदेशी यात्रियों ने किया है। आगरा में कोई गोपाबल कभी या आज तक बिदिष्ट नहीं। फलतः यह गोपाबल न तो आगरा में है और न यह गढवाट ही हो सकता है।

और जिस यह में गोपाबल आया है उसके वल्लभ अर्थ करने वालों को जो 'गिस्तार्ण' (मरसनाएँ छोड़ दीजिए) गोपाबल को गोपाट मानने वाले विद्वान् ऐसे हैं, उन्हीं के आधार पर यदि इस पंक्ति का अर्थ भी करते तो 'गोपाबल' आगरा में नहीं आ पाता। अर्थ स्पष्ट है—आगरे में रहकर उसका पुत्र और गोपाबल में रहा। आगरे के उपरान्त 'रहि' पूर्वकालिक किया है जो 'रहो' समाधिवा किया के पूर्व आकर आगरा से भिन्न किसी गोपाबल की सूचना देती है। फलतः यह गोपाबल प्रसिद्ध म्वालिपर है, जिसके सम्बन्ध में ऐतिहासिक और साहित्यिक दोनों प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं कि म्वालिपर ही गोपाबल है।

तब क्या सूरदासजी 'गोपाबल' अथवा म्वालिपर में पैदा

* 'गोपाट' के अतिप्रायः दो धर्मधर्म के लिए योग्यता, आध्यात्म, धार्मिक और तात्पर्य बार वाली दो परम धार्मिकता होती है।

हुए थे ? जो विद्वान 'आईने अकबरी' के ग्वालियर-निवासी रामदास बैरागी के पुत्र सूरदास को महाकवि सूरदास मानते हैं, उनके लिए 'आईने-अकबरी' की वहिर्साक्ष्य के लिए यह पद 'अन्त साक्ष्य' का काम दे रहा है। तब सूरदास को अकबर का दरबारी कवि मानना पड़ेगा, जो असम्भव है। सूरदास का समस्त जीवन ही दूसरे प्रकार का था, फिर गोघाट पर 'स्वामी' की भाँति रहना और सदनंतर श्रीनाथजी का कीर्तन करने में जीवन लगा देना दरबारी कवि के लिए सम्भव नहीं था। एक विद्वान ने सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र और रामदास मानकर उन्हीं सूरदास के पिता रामदास को अकबर का दरबारी तो माना है पर 'सूरदास' के सम्बन्ध में यह किताब है—

'मुसलमानी लेखकों ने बबबासा बाबा रामदास के साथ उनके पुत्र सूरदास को भी मुगल दरबार में पहुँचा दिया है परन्तु यह मिथ्या ज्ञान पड़ता है। क्यों मिथ्या ज्ञान पड़ता है? इसके लिए युक्ति-युक्त प्रमाण नहीं दिये गये। सूरदास को बाबा रामदास के साथ अकबर के दरबार में पहुँचान की घुष्टता किसी ऐसे-वैस मुसलमानी लेखक ने नहीं की। यह उल्लेख स्वयं 'अदुलफजल' ने किया है उसका उल्लेख प्रामाणिक से भी अधिक प्रामाणिक है। तब ये महाकवि और भक्त सूरदास ग्वालियर निवासी बाबा रामदास के पुत्र सूरदास से भिन्न ही ठहरते हैं— फलतः इन सूरदास का जन्म गोपाबल या ग्वालियर में नहीं हुआ।

वास्तविक बात तो यह है कि साहित्य-रहस्यी के जिस पद को यह महत्व मिला है वह पद ही इस महत्व का अधिकारी नहीं। प्रसिद्ध और अप्रामाणिक है, क्योंकि —

१—इसमें किये गये उल्लेख इतिहास-सिद्ध नहीं।

२—यह साहित्य-रहस्यी में ग्रन्थ की स्वाभाविक पुष्पिका के उपरान्त दिया हुआ है जिससे यह सिद्ध है कि यह बाद में जोड़ा गया है।

३—सूरदास की प्रकृति के मितान्त विषय है, कभी इसना स्पष्ट कथन अपने सम्बन्ध में सूरदास ने किया ही नहीं। (निरोप देखिये—डा० बजेद्वर बर्मा सूरदास प्रभुदयाल मोसल तथा पारीस—सूर निर्णय।) डा० बजेद्वर बर्मा समस्त 'साहित्य,

‘सहरी’ को ही किसी दूसरे सूरदास की रचना मानते हैं। ‘मथुरा’ को जन्म-स्थान ‘भक्त विनोद’ के लेखक मिर्जासिंह ने बताया है। मिर्जासिंह को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। मथुरा के सम्बन्ध में और कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। एक ‘सीही’ को मथुरा स्थित माना गया है इस सीही में पैदा होने से सूरदास मथुरा प्रान्त के हो सकते हैं पर मथुरा प्रान्त में ‘सीही’ नाम का गांव है ही नहीं, सेई, आवि है।

दिल्ली के पास वाली ‘सीही’ ही सूरदास का जन्मस्थान है। हरिरामजी पुष्टिमार्ग के प्रामाणिक लेखक हैं उन्होंने वार्ताओं का सम्पादन किया और उनपर भावप्रकाश किया इस भाव प्रकाश में उन्होंने ने सूचनाएँ दी हैं जो मूल वार्ता में नहीं है। ये सूचनाएँ हरिरामजी को या तो सम्प्रदाय में प्रचलित दन्त कथाओं से मिली होंगी या उनके अनुसंधान का परिणाम होंगी—दोनों ही वार्ताओं में निराधार नहीं हो सकतीं। और जब सब अन्य कोई बाह्य-अन्त साक्ष्य से पुष्ट अन्य स्थान उद्घाटित नहीं होता यह बिस्वी वाली ‘सीही’ ही मूर का जन्मस्थान रहेगी। यह ‘सीही’ बल्कमगढ़ स्टेशन के पास है। यहाँ जन्मेजय के नागयज्ञ के अवशेष भी प्राप्त होते हैं। इस सीही का उल्लेख बक्सर कालीन ऐतिहासिक प्रमाणों में भी मिलता है।

पिता का नाम

पिता के नाम के सम्बन्ध में भी पहली सीही ‘साहित्य-सहरी’ का उपराक्त पद ही है जिसमें आगे रहि गोपबल ने रह्यो ता सुत बीर’ के द्वारा पद रचयिता ने अपने पिता का भी परिचय दिया है। दूसरा साक्ष्य उपर्युक्त ‘आईने बकबरी’ है। तीसरा साक्ष्य नानुराम भट्ट से प्राप्त बंसावली है। साहित्य-सहरी के पद में बी हुई बंसावली और नानुराम भट्ट से प्राप्त बंसावली में अंतर होते हुए भी पर्याप्त साम्य है। ‘साहित्य-सहरी’ में ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदासजी ने अपने पिता का नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु नानुराम भट्ट की बंसावली में सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र दिया हुआ है—इस नाम का प्रामाणिक मानकर एक विद्वान ने लिखा है —

‘हरिचन्द पद के अनुसार मूर के पितामह थे। परन्तु खेब है, मूर इस पद में अपने पिता का नाम निर्देश न कर सके। अपने

पिता को वे केवल 'वीर' विशेषण से सम्बोधित करते हैं। पण्डित नानुराम भट्ट से प्राप्त हुई बघावली के आधार पर महामहोपाध्याय पण्डित हरिप्रसादजी शास्त्री ने मूर के पिता का नाम रामचन्द्र लिखा है, जो भक्ति-सम्प्रदाय के अनुसार रामदास बन जाता है। आर्य जाति के लिए सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र ही हैं। मूर के पिता का नाम भी यही था। पर पद में नाम का न आना खटकता है—इसमें कोई न कोई रहस्य भ्रमर्य अन्तर्हित है और आपको सम्मति में वह रहस्य यह है कि मूर के पिता 'बघावल्या में नैरादम से घिरे हुए, पुत्र शोक से विह्वल' कही दरबारी मुसाहिब बने बाल-यापन कर रहे हैं।

निश्चय ही इस कथन का संकेत उस बाबा रामदास की ओर है जिसका उल्लेख 'आईने अकबरी' में हुआ है। 'आईने अकबरी' एक प्रकार से अकबर के राज्य के तथ्यों का सङ्कलन है। बाबा रामदास 'आईने अकबरी' के अनुसार यदि अकबरी दरबार के गायक के अकबर के मुसाहिब पैं तो उसी साक्ष्य और प्रमाण से मूरदास भी थे। एक का तो मान्य समझना दूसरे का अमान्य समझना ठीक नहीं। फलतः यह मूरदास और रामदास का दूसरे ही व्यक्ति है। मूरदास ने अपन पिता की वीरता का स्मरण किया है, 'आईने अकबरी' में वह गायक है, प्रतीत तो यह होता है कि पद के मूरदास के पिता आईने अकबरी के रामदास से भी भिन्न हैं। इनमें से किसी भी रामदास का महाकवि मूरदास के पिता से कोई सम्बन्ध नहीं। नानुराम भट्ट की बघावली विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। फिर उस बघावली का रामचन्द्र ही रामदास है यह तो अनुमान ही है। नानुराम भट्ट की बघावली की धरण इस कारण सी जाती है कि मूरदास में उक्त पद में पिता का नाम नहीं लिखा किन्तु योग्यता आकांक्षा आसक्ति आदि स पद पर ध्यान देने से स्पष्ट लक्षित होता है कि 'वीर' शब्द गुणवाचक नहीं वरन् व्यक्तिवाचक है—स्पष्टतः अर्थ है उसका सङ्केत 'वीर'—'ता मुत वीर' फलतः उक्त पद के अनुसार तो मूर के पिता का नाम तो 'वीरधन्व' या वीर को रामचन्द्र में परिणत करने की योजना नामगम भट्ट और 'आईने अकबरी' से मिलान के लिए ही गढ़ी दिखायी पड़ती है किन्तु साहित्य-सूहरी के पद की अप्रामाणिकता के कारण यह समझ गड़ हा वह जाना है—और मूरदास के पिता का नाम अज्ञात ही रह जाना है। केवल इतना

ही लेय रहता है कि सूरदास के पिता थे ।

जन्म-तिथि—सं० १५३५ वैशाख शुक्ल ५

सामग्री—सूरदास की जन्मतिथि को निश्चय करने के लिए उपलब्ध सामग्री निम्नलिखित हो सकती है—

१. तत्कालीन अन्तर्साक्षियाँ—

१—'सूर सारावली' में—

गुरु परसाद होत यह दरसन,

सरसठ बरस प्रवीन ।

शिव बिधान तप कियो बहुत

दिन तऊ पार नहि कीन ॥

२—'साहित्य-सहरी' में—

मुनि पुनि रसन के रस लेख,

दसन गौरी नंद को लिखि सुबल सबत पेख ।

मद-नंदन मास छै ते हीन तृतीया वार,

मंद-नंदन जनमते है वाम मुख आगार ।

तृतीय ऋतु सुकर्म जोग बिचारि सूर नवीन,

मंद-नंदन दास हित साहित्य-सहरी कीन ।

य दोनों ही जन्मतिथि के निर्धारण में कोई सहायता नहीं पहुँचातीं एक तो दोनों ही रचनाओं के सूरदास कृत होने में संदेह है । दूसरे इन दोनों के अर्थ इतने बिबाधास्पद हैं कि किसी भी एक वय को ग्रहण करना सम्भव नहीं प्रतीत होता । तीसरे दोनों में ही सूर के जन्म की तिथि का उल्लेख नहीं । पहले किसी 'दरसन' होने की घटना के समय सरसठ वर्ष का उल्लेख है, तो दूसरे में साहित्य-सहरी के निर्माण का संवत् है । इन कारणों से इनके द्वारा जन्मतिथि के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती ।

२. बहिर्साक्ष्य

बहिर्साक्ष्य में वेद-पुष्टि सम्प्रदाय में प्रचलित मान्यता और नसी सम्प्रदायानुयायी कुछ लोगों के लेख ही महत्वपूर्ण हैं ।

पुष्टि-सम्प्रदाय में मान्यता है कि सूरदासजी आचार्य महाप्रभु से १० दिन छोटे थे। 'निजवास्ता' में इसका स्पष्ट उल्लेख भी है "सो श्री आचार्यजी सों दिन दस छोटे हुते। अन्य भक्तों व लेखकों में से इस बात का उल्लेख श्री द्वारिकदा श्री रसिकमाल श्री जमुनादास आदि ने किया है। सम्प्रदाय में इस मान्यता का आधार क्या है, वह हमें विदित नहीं। साम्प्रदायिक मान्यता निराधार भी नहीं मानो जा सकती। गोकुलनाथजी की तो सूरदास से घमिष्ठता थी—'निजवास्ता' गोकुलनाथजी ने ही कही है। अतः समस्त बहिर्लोकियों में इसी साक्षी को महत्त्व दिया जा सकता है।

आचार्य महाप्रभु का जन्म एक बर्ग के बिश्वास के अनुसार स० १५३५ वैशाख कृष्ण १५ रविवार को हुआ था। फलतः सूरदास का जन्म स० १५३२ में वैशाख शुक्ल ५ को मानना होगा।

किन्तु आचार्यजी के जन्म-संवत् के सम्बन्ध में एक दूसरे पक्ष का कहना है कि वह १५३० है। बड़ीदा कौलज के प्रो० मट्ट ने इसे साक्षियों और प्रमाणों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से सूर का जन्म भी १५३० में मानना पड़ेगा। यह आवश्यक है कि प्रो० मट्ट के तर्कों और प्रमाणों का भलीभाँति परीक्षण कर लिया जाय और यह भी देखा जाय कि सम्प्रदाय का एक बड़ा भाग क्यों १५३२ संवत् स्वीकार करता है। दोनों ही पक्षों की समीचीन परीक्षा के उपरान्त ही जन्म तिथि का यथार्थ निर्णय हो सकता है। सम्प्रदाय के लोग तर्कों को तर्क ही मानते हैं और आचार्यजी के जन्म के सम्बन्ध में १५३२ को ही बिश्वास के साथ मान्यता प्रदान करते हैं।

वंश निर्णय—

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सूरदास किस वंश के थे। इस सम्बन्ध में अन्तर्लक्ष्य की दृष्टि से 'साहित्य-महर्षि' का वह पद प्रस्तुत किया जाता है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अनुसार सूरदासजी बन्दरदाई के वंशज हैं। इस आधार से सूरदास 'बहा मट्ट' माने जाने चाहिये। वे बहा मट्ट ही थे यह श्री भारावणप्रसाद 'वेताब जी' ने १६३७ ई० में प्रकाशित 'मिथब-धु प्रलाप' प्रथम भाग में स्थापित किया था। वेताबजी द्वारा दिये अथ को ग्यों का त्यों स्वीकार करते हुए,

किन्तु वेताबजी का नाम न देते हुए 'भट्ट' का विशेष अर्थ 'ब्राह्मण' अनेक युक्ति प्रमाणों से एक विद्वान ने सिद्ध किया है। 'भट्ट' को उन्होंने 'जगा' से भिन्न स्वीकार किया है—जगा, परिया वैतालिक आदि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु 'साहित्य-रहरी' का यह पद प्रामाणिक नहीं माना जाता फलतः उसके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष भी मान्य नहीं हो सकते।

तब सूरसागर में कुछ ऐसे पद हैं जिनमें जाति का संकेत प्रतीत होता है—इसमें पहिले दृष्टि 'ठाढ़ी' विषयक पदों पर आती है —

(नंदबू) मेरे मन आनन्द भयो,
मे गोवर्धन तैं आयो ।

हो तो तेरे घर की ठाढ़ी,
सूरदास मोहि नाक ॥ ६५३

इससे ऐसा समझ होता है कि सूरदास 'ठाढ़ी' से और यह पद इस प्रकार सूरदास के जगा या भाट होने के उपयुक्त मठ की दृष्टि करता प्रतीत होता है, किन्तु आगे कठिनाई उपस्थित होती है—जब सूरदास कहते हैं —

गिरि गोवर्धन बास हमारी,
घर तबि अनंत न जाऊँ ।

ठाढ़िनि मेरी माखे-गाई,
हो हूँ ठाढ़ बजाऊँ—॥

यहाँ तो ठाढ़ी ही नहीं 'ठाढ़िनी' भी विद्यमान है। सूरदासजी के कोई सूरदासिनी भी वह भी उस समय जब वे गोवर्धन निवासी थे अज्ञात हैं। अज्ञात ही नहीं सुनिश्चित है कि सूरदास अकेले थे। तब सूरदास के ठाढ़ी होने का जो मठ उक्त साखी से यद्वा होता है वह जाता है।

यदि मूर 'ठाढ़ी' नहीं तो 'जाट' हो सकते हैं। क्योंकि एक पद में उन्होंने स्पष्ट कहा है

मुझामुझ जोम्ब बहुबहो सिर
कपिम्ब करि लैं दाज ।

हृदय कुशील काम भू-रूपा,
जल-कलमल हैं पाज ।

एसे कुमति जाट सूरज की,
मनु विनु कोउ न जान ॥ २१६

कवि विषयक विषय रूपकों का जिस सहज रूप से सूरदास ने कई पदों में उपयोग किया है उससे प्रतीत होता है कि सूरदास कवि-कर्म से पूर्णतः परिचित थे। तो क्या वे जाट हो सकते हैं? ऊपर जो पद दिया गया है, उसमें भी जाट शब्द उपमान बनकर आया है, वह सूरदास का विशेषण नहीं। कसत 'जाट' शब्द सूर की जाति का चोटक नहीं हो सकता। इसी प्रकार कवि-कर्म के विषय ज्ञान की युक्ति सार रहित है। 'गौघाट' और परासौसौ दोनों ही कृपकों के गौकों के स्थल हैं। उनसे सूर को कवि का विस्तृत परिचय मिला होगा। जाट होने की सम्भावना इसलिए और निमूल हो जाती है कि कोई बहिर्लोक्य भी इसकी पुष्टि नहीं करता। तब, सूरदास जाट भी नहीं हो सकते।

इससे आगे अन्तर्लोक्य में और कुछ नहीं। बहिर्लोक्य की धारण करने पर भी कई मत मिलते हैं—बेतावजी ने बविष्य-पुराण प्रतिसर्ग पर्व तीसरा भाग, अध्याय २२ श्लोक ३० उद्धृत किया है —

सूरदास इति ज्ञेय कृष्ण-लीला-कर कवि
सम्भूतं चन्द्र मङ्गल्य कुले जातो हरि प्रिय

इससे ये चन्द्र मङ्गल्य (?) या मङ्गल्य विदित होते हैं। बेतावजी उन्हें यही सिद्ध करना चाहते हैं।

गोस्वामी यदुनाथ, समय सं० १६१५ से १६६०—(गोसाईं बिट्ठनाथजी के पठ पुत्र) लिखते हैं —

ततो अरुण पुरे समागमः ।
तत्रा वास कृतः ।
ततो ब्रज समागमने सारस्वत,
सूरदासो ज्ञानमूर्तिः

(वल्गुम दिग्विजय)

गोस्वामी गोकुलनाथ के समकालीन प्राणनाथ कवि लिखते हैं —

की बार्ता श्रीगोकुलनाथजी प्रगटि कीये ताको श्री
हरिरायजी भाव कहत हैं ।

[प्रा० वा० २० भा० २ पृ० २४ ।

चौरासी बैष्णवों की बार्ता, की प्रामाणिकता पर आपत्ति ।

१—कई जयहू गोकुलनाथजी के श्रीमुख से कही हुई बातों का
बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है ।

२—बल्लभाचार्यजी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत
भया बुरा कहा गया है और गासिया तक ली गयी है ।

[हिन्दी साहित्य का इतिहास—सुकल, पृ १८२ ।

यह बार्ता एक व्यक्ति की कवि नहीं,

३—यह विविध व्यक्तियों द्वारा कही गयी विविध गाथाओं का
सकलन है, एक व्यक्ति की रचना नहीं । [“हिन्दुस्तानी” में
‘मीराबाई और बल्लभाचार्य’ का० पीताम्बरवत्त बड़व्याल ।

वार्ताकास निर्णय,

इनमें से चौरासी बैष्णवों की बार्ता आचार्य श्री
बल्लभाचार्य के पौत्र और गोसाईं विठ्ठलनाथजी के पुत्र
गोसाईं योक्लनाथजी की लिखी कही जाती है या गोकुलनाथजी
के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है । इसका रचनाकाल
विक्रम की १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है ।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, सुकल पृ० ४४० ।)

बार्ता के तीन रूप —

१—मुख्य बार्ताओं का मौखिक प्रवचन समय सं० १६४२ से
सं० १६४५ तक है—इस काल तक गोसाईंजी का शिरोधान हो
जाता है और श्रीगोकुलनाथजी की उत्कृष्टता का समय जाता है ।

इनका संग्रह इतस्ततः किया गया । ये मौखिक कही
गयी थीं । इनमें चौरासी तथा दो सौ बैष्णवों की बार्ता जसा
वर्गीकरण नहीं हुआ । ये बार्ताएँ मुख्यतः मिथित श्रवमाया में
मिलती हैं । इसका समय १६४५ से १६६० तक माना जा
सकता है ।

२—श्री गोकुलनाथजी के समय श्रीरत्ननाथजी ने श्री हरिरायजी द्वारा संपादन—धीरासी तथा दोसी वावन बैष्णवों में विभाजन । इस संस्करण का समय सं० १६६४ से सं० १७३५ तक माना जा सकता है ।

“काकरोली में सं० १६६७ बैष सुदी ५ की एक हस्त लिखित तथा गोसाईंजी के चार अष्टछापी सेवकों की वार्ता विद्यमान है । पुष्पिका से विदित है कि यह ग्रंथ गोकुल में लिखा गया था । यह किसी और या प्राचीन ग्रंथ की संक्षिप्त प्रतिलिपि है क्योंकि बीच-बीच में वार्ताओं के भीतर अमुक पंक्तियाँ छोड़ दी गयी हैं जिनको लिखिया मूल प्रति से बाँच नहीं पाया है ।

[प्रा० वा० २० भाग २, पृ० २३ ।

३—श्री गोकुलनाथजी के अनंतर श्री हरिरायजी के समय इसका संकलन हुआ—वार्ता में आवश्यक प्रसंग सम्मिलित हो गये । उनके स्पष्टीकरण के लिए श्री हरिरायजी ने अपना भावप्रकाश लिखा । समय सं० १७३५ के अनंतर सं० १७८० तक । सं० १७३२ की वार्ता की प्रति भावप्रकाश सहित है । वार्ता का संपादन श्री हरिरायजी ने किया ।

१—सम्प्रदाय-कल्पद्रुम समय (सं० १७२६), में {पत्र १४७ दोहा
‘भाषा धिक्ता पत्र किय धीरासी नृपमान ।’

२—श्री कृष्णायनम श्री गोपीजन वल्लभाय नमः अथ धीरासी वैष्णवन की वार्ता श्री गोकुलनाथजी प्रगट कीये ताको श्री हरिरायजी भाव कहत हैं ।

(भावप्रकाश वाली ८४ वार्ता मातृष्ट के श्रीगीरीसासजी के पाम ।)

विमर्श

१—वार्ताएँ गोकुलनाथजी मौखिक कहा करते थे । पर यह विदित नहीं होता कि उन्होंने क्या लिखाया या लिखी हुई देखीं । वे उन्होंने स्वयं लिखी इसका भी कोई उल्लेख नहीं ।

२—कुछ वार्ताएँ या सभी वर्तमान रूप में माने से पूर्व भी सम्प्रदाय में प्रचलित थीं । वार्ताएँ घटित घटनाओं का वर्णन करती हैं अतः वहाँ तक घटनाओं का सम्बन्ध है वे उन्हीं

- घटनाओं का उल्लेख करती हैं जो गोकुलनाथ के समय तक हुई मानी जाती थीं ।
- इन वार्ताओं का रूप गोकुलनाथजी के समय में निश्चित अवश्य हो गया था जैसा १६६७ स० वाली प्रति से विदित होता है ।
- इस प्रति की पृष्ठिका में लेखक चुलीलाल ने अपना नाम तो दिया है । पर रचनाकार का नाम नहीं दिया—
- लिखित श्री गोकुलजी मध्य 'चुलीलाल' पर जिस प्रकार गोकुल क श्री गौरीलालजी वाली भावप्रकाश वाली ८४ वार्ता की प्रति के आदि में लिखा है कि श्री गोकुलनाथजी प्रगटि किये ताको' इस प्रकार उक्त प्रति में नहीं । लेखक का नाम बचा जाने की परिपाटी तो है नहीं । संभवतः इस समय वार्ताएँ गोकुलनाथजी कृत नहीं मानी जाती थीं वे प्रचलित थीं इन्हें इस लेखक ने संकलित कर दिया ।
- गोकुलनाथजी ने प्रचलित वार्ताएँ भक्तों को सुनार्यो और उन्हें इस प्रकार का क्रम दिया । भक्तों ने वे असंग-असंग लिख डालीं और वे लिख ली गयी थीं गोकुलनाथजी के ही समय में और यही कारण है कि वार्ताओं के कई संस्करण मिलते हैं ।
- प्राप्त प्रमाणों से यह भी प्रकट नहीं होता कि वार्ताओं का संपादन हरिरायजी ने किया था उन्हें यह क्रम दिया । उन्होंने भावप्रकाश क साथ वे वार्ताएँ अवश्य लिखीं । यदि हरिरायजी न ही तथाकथित द्वितीय संस्करण को संपादित किया होता तो वे अपने भावप्रकाश वाली ८४ वार्ताओं का क्रम भी वही रखते और तब प्राचीन वाता रहस्य के संपादक प्रो० कण्ठमणि दास्त्री का यह नहीं कहना पड़ता हम उस स० १६६७ की लिखित प्राचीन वार्ता को यथावत् रूप में इसलिए प्रकाशित नहीं कर सकें क्योंकि इसके ऊपर भावप्रकाश नहीं मिलना है इसके प्रसंग उस प्राचीन प्रति के क्रम से मेल नहीं खाता ।
- जैसा प्रो० डा० दीनदयाल गुप्त क कथन से प्रकट होता है १६६७ की प्रति किसी अन्य की प्रतिलिपि है क्योंकि बीच-बीच में वार्ताओं के भीतर अनेक पंक्तियाँ छोड़ दी गयी हैं जिनको लिखिया मूल प्रति से बाँध नहीं पाया है ।

इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि मूल वार्ता १६१७ से भी पूर्व की होगी । भावप्रकाश इस प्रति से ३८ वर्ष बाय बना । प्रा० वा० के संपादकों ने माना है कि वह १६३२ के आसपास ही लिखा गया होगा । हरिरायजी का दूसरे संस्करण पर ३८ वर्ष के बाद क्यों भावप्रकाश लिखने का विचार हुआ । यदि इसका निराकरण यह कहके कर भी दिया जाय कि उन वार्ताओं में कितने हो सके होने लगे थे तो यह प्रश्न फिर भी महत्वपूर्ण रह जाता है कि ३८ वर्ष बाद उन्होंने प्रसंगक्रम क्यों बदले ? संभावना यह प्रती होती है कि दूसरा संस्करण हरिरायजी ने नहीं किया । हरिराय ने तो अपने अनुकूल एक क्रम देकर उन कथाओं को गोकुलनाथजी द्वारा प्रगट को हुई मानी जाती हैं भावप्रकाश साथ ३८ वर्ष बाद प्रस्तुत किया ।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूरदास

(भा० धीरेन्द्र वर्मा की अष्टछाप के आधार पर ।)

अथ सूरदासजी गऊघाट पर रहते तिनकी वार्ता ।
प्रसंग १—सूरदास गऊघाट पर रहते थे, वहाँ उनका स्थल था । सूरदासजी स्वामी थे भगवदीय थे, गान अच्छा करते थे । सबकों ने बल्लभाचार्यजी के बाट पर उतरने की सूचना सूरदास को दी और महाप्रभुजी का परिचय दिया कि दक्षिण में दिग्बिजय की, पंडित जीते और भक्तिमार्ग स्थापित किया है । महाप्रभु के निवृत्त होने पर सूरदास दर्शन का आये तब उन्हें आचार्यजी ने दीक्षित किया । सूरदास न अपने सबकों को भी दीक्षित कराया । सूरदासजी महाप्रभु के साथ ब्रज में गये ।

२—महसे गोकुल—गोकुलमें सूरदास की बाल लीला स्फुरी तब श्रीनाथजी द्वार गये ।

३—सूरदासजी से देसाधिपति न मिलना बाधा वे मिले । पद सुने कहा कि मेरा जस बखू गाबी । सूरदास न पद गाया ।

नाहिन रही मन में ठौर ।

अनवर बादशाह ने पूछा कि सूरदासजी तुम्हारे नयन तो नहीं हैं फिर प्यासे बंसे मरते ह । उक्त पद में उत्पन्न था 'मग्न लोचन प्यास । सूरदासजी कुछ न बाने । सूरदासजी बिदा हो श्रीनाथ द्वार आय ।

४—सूरदासजी मार्ग में जा रहे थे । मार्ग में धीपड़ सेल रहे थे । वहाँ सूरदासजी ने पद गाया । 'मन तू समुक्ति सोच विचार ।

५—भीनाथजी की सेवा बीच-बीच में गोकुल के नवनीत प्रिया के दक्षम । बाल लीला के पद यहाँ गाये गुसाईजी प्रसन्न हुए । गुसाईजी ने संस्कृत में पालना सुनाया और पद भी गाये ।

६—फिर भीनाथजी की सेवा तब अन्त समय निकट जान कर परासोली आये । राजभोग आरम्भ के पश्चात् गुसाईजी के साथ भीतरिया सेवक रामदास कुमनदास, गुसाईजी के सेवक गाबिन्दस्वामी चन्नमुजदास पारा सोनो आये सूरदास की मृत्यु ।

अथ कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता ।

प्रसंग ४—कृष्णदासजी ने बहुत पद कीए । तब एक समय सूर दासजी ने कृष्णदासजी से पूछा कि तुम पद करते हो उसमें मेरी छाया है । कृष्णदास ने कहा कि ऐसा पद बनाऊँगा कि जिसमें तुम्हारी छाया न आवे । पद बनाया कृष्णदास ने तीन तुक तो बनायीं पर खीची न बनी । वे उसे अबूनी छोड़ प्रसाद लेने उठ गये तो स्वयं भीनाथजी ने तुक पूरी कर दी । सूरदासजी ने सुना सो कहा 'तुम सों वाद हूँ प्रमून सो वाद नाहीं ।

प्रसंग अन्य अष्ट सलाखा के सम्बन्ध में कोई उल्लेख किसी अन्य वार्ता में क्यों नहीं मिलता ?

श्री बन्धुभाषायजी व दहावसान का भी कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता ?

इस वार्ता में सूरदास से सम्बन्धित जिन व्यक्तियों का उल्लेख है वे हैं ।

१—श्री आभायजी महाप्रभु

२—सूरदास की सेवक

३—दत्तात्रिपति

४—भीतरिया के सेवक रामदास

- १—कुमनदासजी
६—गाविन्दस्वामी
७—षष्ठभुजदास
८—गुसाईजी

सूरदास से सम्बन्धित जिन स्वामीों का उल्लेख है ।

- १—गऊघाट
२—भी गोकुल
३—श्रीनाथजी द्वार
४—परासोली

वात्सीर्थों में सूरदासजी की रचनाओं का उल्लेख

प्रसंग १—गऊघाट पर आचार्यजी की आज्ञा से सुनाया ।

१—हो हरि सब पतितन को नायक (सू० सा० ना० प्र० पद १४६)

और पद

२—प्रभु में सब पतितन को टीकी

--

भरियत राज सूर पतितन में कहत सबन में नीकी

(सू० सा० ना० प्र० पद १३८)

आचार्य बड़ो भगवल्लीला करो । आचार्य सूर को नाम सुनायी । २—सम्पन्न करामा । ३—बसन्त स्कन्ध की अनुक्रमणिका कही ।

तब सूर ने यह दशम सुनाया ।

१—नमामि हृन्म नेप शोलाक्षवधिधि सायनम् ।

महाप्रभू के सन्निधान पद बोध ।

४—घड़ई री बलि चरण सरोवर जहाँ न प्रम वियाग ।

(सू० सा० ना० प्र० पद ३३७)

यह पद दशम स्कन्ध के मंगलाचरण की बारिका के अनुसार ।

सूरदास ने मन्त्र महोत्सव कियौ ।

अब भयौ महर् कैं पूत । (सू० सा० ना० प्र० १४२)

आचार्यजी ने तब पुरुषोत्तम सहस्र नाम सुनायो ।

तब सूर को सम्पूर्ण भागवत की स्फुरना भई ।

पाछे जो पद किये सां थी भागवत प्रथम स्कन्ध स द्वादश
स्कन्ध साँई किये ।

प्रसंग २—गोकुल । श्री आचार्यजी महाप्रभु अपने श्री मुख
सों कहतैं जो सूरदास श्री गोकुल वधान करो—

श्री गोकुल की बालसीला सूरदासजी के
हृदय में फुरी । तब सूरदासजी ने विचार कियौ मन
में, जो श्री गोकुल की बालसीला को वर्णन करि कैं
श्री आचार्य श्री महाप्रभुन के आगे सुनाइय ।

सो निव करन पुनीत लिय ।

धन्य सूर एकौ पद यह सुन कहा भयौ जोएँ

(सू० सा० ना० प्र० पद ७६७)

पाछे और हूं पद गायो ।

श्री नाथजी द्वार । तब सूरदासजी सों कह्यौ जो सूरदास
स्नात करि कैं श्री नाथजी को दर्शन करि । तब सूरदास

जो पर्वत ऊपर जाय के श्री नाथजी को वधान कीयौ । तब
आपने कह्यौ जो सूरदास कछु श्री नाथजी को सुनावी—

अब हों नाथी बहुत गोपाल । (सू० सा० ना० प्र० पद १५३)

तब श्री महाप्रभुन श्री ने कह्यौ जो अब तौ सूरदास तुम
में कछु अविद्या रही माहीं । ताते कछु अयबदास वर्णन करी ।
तब सूरदासजी ने महात्म्य और छीला ऐसे बस करिये गाय
सुनायो । सो पद, राग गौर,

कौन सुकृत इन ब्रजवासिन को ।

इसके आगे हरिरायजी ने और पदों का भी उल्लेख
किया है ।

ता समय सेन भोग सरि खुबपो हतो सो तब मान कैं कीर्तन
सूरदास ने गाये, सो पद—

। हरिरायजी ने माधवकाश में इसका पाठ 'श्रीमि' कर मन्थित किए, बिना
और बताये कि सूर ने इसे मन्थित प्रिया को लज्ज कर बनाया ।

- ५—कुमनदासजी
- ६—गोबिन्दम्बाजी
- ७—धनभुजदास
- ८—गुसाईजी

सूरदास से सम्बन्धित जिन स्थानों का उल्लेख है ।

- १—गऊघाट
- २—श्री गोकुल
- ३—श्रीनाथजी द्वार
- ४—परासोली

वाचाओं में सूरदासजी की रचनाओं का उल्लेख

प्रसंग १—गऊघाट पर आचार्यजी की आज्ञा से सुनाया ।

१—हां हरि सब पतितन को नायक (सू० सा० ना० प्र० पद १४६)

और पद

२—प्रभु में सब पतितन को टीकी

मरियत राज सूर पतितन में कहत सबन में नीकी
(सू० सा० ना० प्र० पद १३८)

आचार्य कष्टो भगवत्स्तीला करी । आचार्य सूर को नाम
सुनायो । २—समर्पण कराया । ३—दशम स्कन्ध की अनु-
क्रमिका कही ।

तब मूर ने यह दशम सुनाया ।

१—नमामि हृदय जये श्रीलासमविधि साधनम् ।

महाप्रभुन क मन्त्रिधाम पद बँधे ।

४—चरई री बलि चरण सरावर जहाँ न प्रम बियोग ।
(सू० मा० ना० प्र० पद ३५७)

यह पद दशम स्कन्ध के मंगलाचरण की कारिका के
अनुसार ।

सूरदास ने नन्द महोत्सव किया ।

अब भयो महर के पूछ । (सू० सा० ना० प्र० ६४२)

आचार्यजी ने तब पुरुषोत्तम सहस्र नाम सुनायो ।

तब सूर को सम्पूर्ण भागवत की स्फुरना भई ।

पाछे जो पद किये सो श्री भागवत प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध ताई किये ।

प्रसंग २—गोकुल । श्री आचार्यजी महाप्रभु अपने श्री मुख सों कहत जो सूरदास श्री गोकुल दर्शन करो—

श्री गोकुल की बालसीला सूरदासजी के हृदय में फुगी । तब सूरदासजी ने विचार किया मन में, जो श्री गोकुल की बालसीला को वर्णन करि के श्री आचार्य जी महाप्रभुन के आगे सुनाइये ।

सो मित करम पुनीत किय । ७

अन्त्य सूर एकौ पद यह सुख कहा भयो जोएँ

(सू० सा० ना० प्र० पद ७६७)

पाछे और हूँ पद गायो ।

श्री नाथजी द्वार । तब सूरदासजी सों कह्यो जो सूरदास स्नान करि के श्री नाथजी की दर्शन करि । तब सूरदास जी पर्वत ऊपर जाय के श्री नाथजी को दर्शन कीयो । तब आपने कह्यो जो सूरदास कछु श्री नाथजी को सुनावी—

अब हों भाष्यो बहुत गोपाल । (सू० सा० ना० प्र० पद १५३)

तब श्री महाप्रभुन जी ने कह्यो जो अब तौ सूरदास तुम में कछु आबिधा रही नाही । ताते कछु भयबधस वर्णन करौ । तब सूरदासजी ने महारम्य और लीला ऐसे जस करिये गाय सुनावी । सो पद, राम गौर

कौन सुकृत इन ब्रजवासिन की ।

इसके आगे हरिरायजी ने और पदों का भी उल्लेख किया है ।

ता समय सेन भोग सरि बुझयो हतो सो तब नाम के कीर्तन सूरदास ने पाये, सो पद—

। श्री हरिरायजी के भाष्यकाष्ठ में इसका अठ 'सोमिह कर भवनीत सिद्ध' लिखा और बताया कि सूर ने इसे भवनीत प्रिय को सब कर बनाया ।

१—बोलत काहे म नागर बेना ।

२—सुखद सेज में पीठे रमिकवर ।

(सू० सा० ना० प्र० परि० पद २१७)

३—पीठे साल राधिका सर लाय ।

(सू० ना० ना० प्र० परि० २ पद २१८)

प्रसंग ३—सूरदासजी ने सहस्रविधि पद कीये हैं ता को सागर कहिये सो सब जगत में प्रसिद्ध भये । देशाधिपति मिले और सूरदास ने उनके आगे कीर्तन गायो १ सो पद राग बिलावल—

मना रे तू करि भाषीं सों प्रीति । (सू० सा० ना० प्र० पद ३२५)
देशाधिपति ने कहा—कुछ मेरा यश कहो । तब सूरदास ने गायो ।
‘नाहिन रख्यौ मन में ठौर । इस पद के अंत में वा ।
हो जो सूर ऐसे दरस को मरत सोचन प्यास ।

(सू० सा० ना० प्र० पद ४३५०)

देशाधिपति से बिदा होके श्रीनाथजी द्वार आये ।

प्रसंग ४—एक समय सूरदासजी मार्ग में चले जाते सो कोई चौपड़ बोल रहा । सो ता समय एक पद सूरदासजी ने अपन संगकेन सों कह्यौ—

मन तू समझि साच बिचार ।

भक्ति बिम भगवान दुर्मम कहत निगम पुकार ॥

सूर हरि के पद भजन बिन चस्यौ दोठ कर भ्रमर ।

प्रसंग ५—सूरदासजी श्रीनाथजी द्वार आय के बहुत दिन ताई श्रीनाथजी की सेवा कीनी । बीच बीच में श्रीगोकुल धी नवनटी प्रियाजी के दर्शन करि आवते । एक समय गोकुल आये और बाल लीला के पद बहुत सुनाये श्री गुसाईजी सुन के बहुत प्रसन्न हुए ।

श्री गुसाईजी पालना सत्कृत में कीयी सूरदास को सिखायो । सूरदास ने वा पद ‘प्रस पर्यंक धर्म’ के भाव के अनुसार बहुत पद किये । सो पद ।

राग बिलावल

१—बाल विनोद अश्विनि में की होलमि ।

कहे जन सूर कहाँ सौ धरनीं धाय नद जीबन जग सोजनि ।

(सू० सा० ना० प्र० पद ७१६)

२—गोपाल दुरे है माखन सात ।

फुरत न वषन बरजिबे को मन रही विभारि विभारि ।

(सू० सा० ना० प्र० पद १०१)

३—कहां लग वरनों सुन्दरताई ।

घट्टवन वषत चठत प्रभु दिन मन मूरदास बलि आई ।

(सू० सा० ना० प्र० पद ७२६)

राग रामकली

देखो सखी एक अद्भुत रूप ।

एक अम्बुज मध्य देखियत वीसदधि सुत ।

सूर भी गोपाल की छवि राखो यह निरधार ।

हरिरायजी ने भावप्रकाश में ये पद दिये हैं—

१—देखो सखी एक अद्भुत रूप ।

२—गोमा आज भली बनि आई ।

प्रसंग ६—परासोली अत समय भी गुसाईंजी आये सब एक पद गायो ।

देखो देखो हरि जू को एक सुभाब ।

-- --

सूरदास ऐसे प्रभु क्यों करदीबे पीठ --

वत्सभुजदास ने कहा थी आचार्यजी महाप्रभु की अस वर्णन तो कीयो ।

सूर ने कही उन्हें कुछ चारा नाही, एक पद कहा ।

मरोसी दुइ इन चरनन केरी ।

थी बल्लभ नखचंद छटा बिभ सब जग मांस भँधेरो ।

-- -- -- --

सूर कहा कहि दुबिधि औधरी बिना मोल कौ धेरो ।

गुसाईंजी ने पूछा चित्तवृत्ति कहा, सो पद कहा ।

बलि बलि हों कुमार राधिका नदसुवन जासों रति मानी ।

गुसाईजी ने पूछा नेत्रवृत्ति कहाँ है सूर—

‘सज्जन नैन रूप रस माते’ (सू० सा० ना० अ० पद ३२८५)

प्रसंग ७—अष्टछाप के कवियों में कोई व्यावहारिक आदान प्रदान नहीं मिलता वार्ता में केवल एक ङग का उल्लेख है। कुछ अष्टछाप के कवि तथा अन्य भक्त किसी दिन सूरदास के पास आये और कोई साम्प्रदायिक प्रश्न किये। किसी दिन कुंभनदासजी के पास, कभी कृष्णदास के इसी प्रकार प्रायः सभी के पास जाने का भाव प्रकाश वाली वार्ताओं में उल्लेख है। वीरेन्द्रजी बानो प्रकाशित प्रति में एक प्रकार का भी उल्लेख नहीं है।

प्रसंग ८—भावप्रकाश वाली वार्ता में तुलसीदासजी नन्ददास से मिलने आये हैं उस समय का उल्लेख है। पाछे नन्ददास सूरदासजी से मिलि के श्रीनाथजी के दर्शन करिखे कूँ गये। तब तुलसीदासजी हू उमके पाछे पाछे गये। इससे भी सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी उस समय सूरदास से मिले होंगे।

प्रसंग ९—नन्ददास की वार्ता में ही भावप्रकाश में लिखा है कि पाछे नन्ददास छ मास पर्यन्त सूरदासजी के संग परासोली में रहे। पीछे श्री गोकुल में रहे। इससे यही प्रकट होता है कि सूरदासजी का गोवर्द्धन-निवास परासोली में था। तुलसीदास को नन्ददास यहीं मिले थे। ‘सो वहाँ परासोली में तुलसीदासजी नन्ददास कूँ मिले।’

इस वार्ता के अनुसार अफ़सर कहाँ कब किससे मिले

१—सूरदास से मथुरा में प्रसंग ३ पृ० २४।

२—कुंभनदास से सीकरी में पृ० ११८।

३—नन्ददास से मानसी गंगा गोवर्द्धन में ६ पृ० १२१।

हरिरायजी के भावप्रकाश में विशेष (प्राचीन वार्ता साहित्य वांकरीली से यहाँ केवल उन्हीं वार्ता का उल्लेख किया जा रहा है जो डॉ० वीरेन्द्र वासी से विशेष हैं।)

प्रसंग १—मथुरा के गोवर्द्धन श्रीनाथजी द्वार में कीर्तन के लिये नियुक्ति तक के वर्णन में कुछ बिद्यप पदा का उल्लेख

घटनाएँ प्रायः एक ही, धीरे-धीरे की अष्टधाप से मिलती हुई ।

२—घटना चौपड़ वाली ।

३—१—आचार्यजी सूरदास से कहते भीमर मूरसागर ।

२—तानसेन ने सूर का पद सीसकर अकबर को पद सुनाया सो पद — यह सब जानों सब के सज्जन ।

तब देशाधिपति ने मूर से मिलने का विचार किया ।

जब अकबर उन्हें कुछ देने लगा धीरे कहा 'कुछ तो माँ को बान्ना करिये तब मूरदासजी ने कहा जो-आज पाछे हमको कबहुँ फेरि मति बुलाइयो धीरे माँ सो कबहुँ मिलियो मत ।

४—आगरा में अकबर ने मूर के पद सग्रह कराये-फारसी में । घनावटी पद भी आये । पानी पर तैराकर अकबर ने परीक्षा दी । मूर के पद तरते रहे । नकली बूब गये ।

५—गोकुल में गुसाई हठ पाप्मने के अनुसार पद ।

६—गोसाई जी आनाथ द्वार गये पर श्री गिरिधरजी आदि बाळकन के कहने पर मूर गाकुल रहे ।

श्री गिरिधरजी सौं श्री गोविन्दरायजी धो बालकृष्णजी और श्रीमाकुलनाथजी ये तीनों भाई सलाह करो अनोखो शृंगार करो । गिरिधरजी ने कहा परीक्षा सना ठीक नहीं मूर भगवदीय है । उन्हें स्वरूपानन्द को अनुभव हा जाता है । पर बाल हठ से प्राप्त उन्होंने आनाथा शृंगार किया-वस्त्रविहीन, मोती के आभूषण । मूरदास ने अद्भुत पद किया ।

देवेंद्री हरि नंगम नगा ।

७—मूरदासजी के पास भापाल नामा ब्रजवासी कामकाज के लिये सरिका था । वह भाजन के समय मूरदास का पानी दना मूल गया स्वयं श्री नाथजी अपनी आँखें रक्त गये ।

८—एक वर्तमान का प्रसंग । श्री नाथजी के मन्दिर के नीचे गोपालपुरा गाँव में बनिया ६० वर्ष का । बड़ी दर्शन न किया । न ब्रह्मण्य । मूर ने सोचा इसे ब्रह्मण्य बनाओ ।

तीन दिन फिरे—भय विनाया कि तेरा भद लोरु दूँगा ।
एक-मी वैष्णव सामान नहीं खरीदेगा । पद बनाया ।

‘आज काम कालि काम परसों काम करनो’ आबिर यह वैष्णव
हुआ और शरण गया । गुसाईंजी ने सहानाम सम्बन्ध कराया
तब सूरदासजी ने एक पद करि वा बनियाँ को सिखायी ।

राग धिशाबत

कण्ठ सुमिर तन पावन कीजे ।

१—श्री गोकुल ते परमानन्द आदि वैष्णव दस पन्त्रह सूरदास
सों मिलिबे आये । ताही समय सूरदास ने कीर्तन गाये ।

१—हरिजन सग छिनक जो होई ।

२—प्रभुजन पर प्रसन्न अब होई ।

३—हरि के जन की अति ठकुराई । (सू० सा० ना० प्र० पद ४०)

४—जा दिन सठ पाहुने आवें । (सू० सा० ना० प्र० पद ३६०)

वैष्णव ने कहीं ज्ञान, योग, परमानन्द और श्री ठाकुरजी को
प्रेम, स्नेह को स्वरूप सुनायी मूर ने सुनाया —

राग बिहागरो

जोग सों कोउ नाही हरि पाये (सू० सा० ना० प्र० पद ४२१२)

१०—सूरदासजी ने बहुत दिन ताई भगवत सेवा कीमी ता
पाछे जाने जो भगवद् इच्छा मोकों बुलायवे की है ।
पर सोचा कि मैं ने मन में सबा लाल कीर्तन करने
का सकल्प किया है । लाख तो कर लिये हैं । तब
श्री गोवर्द्धननाथजी आप प्रकट हुए और कहा २५
हजार कीर्तन सूरस्याम नाम से भक्त कर दिये हैं ।
तुम्हारा सब लाल का सकल्प पूरा हो गया है ।

११—तब सूरदासजी परासोसी गये राजमोय आरती उपरान्त
श्री गुसाईंजी रामदास कृष्णदास गोविन्दम्बामी,
पद्मभुजदास आदि सूरदास के पास आय ।

गुसाईंजी के पहुँचने पर सूरदास ने सारंगराग में यह पद
गाया ।

शबभुजदास ने कहा आचार्यजी को पद गाओ सूर ने गाया
मरोसो बुद्ध इन घरनम करौ ।

शबभुजदास ने कहा सूरदास घोर में पुष्टिमारग को स्वरूप सुनाओ ।
सूरदास ने पद सुनाया । राग सारंग—

भज सबी माय भाविक देव ।

श्री गुसाईजी ने पूछा चित्त की वृत्ति कहां ह । एक पद गाया ।

बलिवसि हों फुंवर राधिका नंद सुवन चाखों रति मानी ।
पाछै दूसरो पद गाया ।

सज्जन नैम रूप रस माते ।

मृत्यु

वार्त्ताओं की इस संक्षिप्ति से सूर के जीवन की विविध घटनाओं का भी पता चलता है और वार्त्ताकार की मानसिक स्थिति का भी । सूर के काव्य की पुष्टभूमि का एक पहलु भी स्पष्ट हो जाता है । इन वार्त्ताओं की प्रामाणिकता अभी हम केवल इतनी तो मान ही सकते हैं कि इनमें सम्प्रदाय में सूरदास विषयक बातें आगयी हैं । सूरदास पर वार्त्ताओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य भी मिलता है । वह इतना भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । अभी सूरदास विषयक अनुसंधान बहुत ही उपका ह । इस सम्बन्ध में सभी विद्याओं से गंभीर प्रयत्न अपेक्षित है ।

सूरसागर

सूर की रचना—‘सूरसागर’ सूरदास की रचना है। यही सूरदासजी की ऐसी रचना है, जिसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं, जिसे सभी सूरदास की प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।^१

सूरसागर का स्वरूप—वार्ता में ‘सूरसागर’ शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ के लिए नहीं हुआ, बरन् सूरदास जी के लिए हुआ है।^२ सूरदास स्वयं ‘सागर’ से उनके पदों का संग्रह भी सागर कहलाया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। ‘सूरदास’ के पदों के सम्बन्ध में मतभेद है। सूरदास जी सम्बन्धी ‘वार्ता’ में यह उल्लेख है कि उन्होंने ‘सहस्रभिधि’ पद लिखे। इसी के उपरान्त श्री हरिराय जी द्वारा सम्पादित ‘वार्ता’ में एक प्रसंग यों है—

‘सो तब सूरदास जी मन में विचारे तो—मैं तो अपने मन में सबा लाख कीर्तन प्रकट करिख को सकस्य कियो ह सो तामें ते लाख कीर्तन तो प्रकट भय हैं। सो भगवद् इच्छा से पचीस

१—डा. प्रवेश्वर वर्मा ने लिखा है “यह बृहती की विवेचना के अनुसार सूरदास की केवल एक प्रामाणिक रचना, सूरसागर रह जाती है। इस रचना की रचना वार्ता से भी मिलती है।”—सूरदास, पृ० ६७।

डा० प्रवेश्वर वर्मा के अतिरिक्त शेष सभी लेखक तथा विद्वान ‘सूरसागर’ के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाओं को भी सूरदास ही मानते हैं।

२—‘और सूरदास वा जब भी आचार्य जी देखते तब कहते थे—आगे सूरसागर, सा ताका आचार्य यह है जो—समुद्र में समुद्र परम्परा होता है। तैम ही सूरदास ने सहस्रभिधि पद लिखे हैं। तामें ज्ञान वैराग्य के मारे-न्याये भक्ति भक्त, अनेक भगवत आचार्य सो निज सत्य की लीला की बरतन किमी है।—‘प्राचीन वाङ्मय’ तृतीय भाग पृष्ठ १३

हजार कीचन धीरे प्रकट करने

वाही समय श्री गोवर्द्धननाथ जी आपु प्रकट होय के वरदान दे के कह्यो जो—सूरदास जी । तुमने जो सवा लाख कीर्तन की मन में मनोरथ कियो ह सो ती पूरन होय चुक्यो ह, जो पच्चीस हजार कीर्तन भेने पूरन करि दिये है । ^१ ये पच्चीस हजार कीर्तन 'सूरस्याम' की छाप से मुक्त थे ।

सूरदास के अन्तर्भाव से पदों की संख्या निर्धारित करने के लिए सूरसारावली के एक पद की ये पंक्तियाँ दी जाती हैं—

श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो मीला भेद भतायो
ता दिन तें हरि सीला गाई एक लख पद धन्द ।
ताकी सार 'भूर सारावलि' भाषत अति आनन्द ॥

इन कथनों से यह विदित होता है कि सूरदास ने सहस्राब्धि अथवा सवा लाख अथवा एक लाख पद रचे । वार्ता के प्रसंग से एक बात तो यह स्पष्ट विदित होती है कि इस वार्ता के प्रचलित होते समय तक सूरदास जी के पदों की संख्या तो सवालान्न मानी जाने लगी थी पर उसमें 'पच्चीस हजार' पद ऐसे थे जो सूरदास के नहीं थे । हो सकता है यह बात पदों में 'सूर-स्याम' छाप की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गयी हो । किन्तु साधारणतः यही अनुमान होता है कि सूरदास के पदों में किसी अन्य के रचित पद भी सम्मिलित हो चुके थे । इसकी पुष्टि इसी वार्ता के एक अन्य प्रसंग से होती है ।

'पाछे देवाधिपति ने आगे में आयके सूरदास के पदन की तरास कीनी । जो कोऊ सूरदास जी के पद लावे तिनकुं रूपैया और मोहोर देय । सो ये पद फारसी में लिखायके बाबे । सो मोहोर के लालच सों पण्डित कबीश्वरहू सूरदास के पद बनाय के समे ।'^२

१—प्राचीन वार्ता ग्रन्थ द्वितीय भाग, पृष्ठ ४६ ।

२—वही पृष्ठ सं २७ । भाष्यकार काता यह वार्ता-प्रसंग सं० १७२२ से १७७२ के बीच हरियाण द्वारा लिखित किया गया होगा । 'श्री सुनिर्णय' पृष्ठ २१ । अतः अठारहवीं शताब्दी तक के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सूरदास की मौखिक रचनाओं में प्रक्षिप्त पद मिल गये थे ।

सूरदास के लाख सवा लाखपदों की गणना में सम्भवतः ऐसे भी अन्य कवियों द्वारा रचे जासी पद भी सम्मिलित हो गये होंगे । पर इतना होने पर अभी तक जो पद सूरदास कृत माने गये हैं वे सध ८-१० हजार से अधिक नहीं हैं ।

सूरदास की रचनाओं का संग्रह अकसर के समय में ही होने लगा था । अभी तक प्राप्त सूर के संग्रहों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ स० १६१७ का लिखा हुआ है ।^१ यह प्रति राठौर वध की मेकटिया शाखा के महाराज किसानदास के पठनार्थ लिखी गयी थी ।^२ किन्तु अभी तक ऐसा कोई भी संग्रह उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें सूर के समस्त पद सम्मिलित हों । प्रकाशित और प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थों में तो उनके रचित पद हैं ही पर उनके बहुत से पद तो वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तनों में ऐसे मिलते हैं जो कहीं भी सम्मिलित नहीं हैं । अतः यह सम्भव नहीं कि सूरदास द्वारा रचित पदों की ठीक संख्या बतायी जा सके । इस दिशा में अभी कोश चल रही है और चलती रहनी चाहिये । वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तनादि में मिलने वाले भी समस्त पदों का संग्रह होना चाहिये । जहाँ तक सूरदास के पद निर्माण की सामर्थ्य की प्रश्न है यह कहा जाता रहा है कि वे कभी पुराना पद गात ही नहीं थे । इस प्रकार 'सूर निर्णय' के लेखकों ने हिसाब लगाकर यह निष्कर्ष निकाला है

"यदि हम पदों को पूर्व संख्या में जोड़ा जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए लाख सवा लाख पदों की बात प्रमाणित हो जाती है । हमने सूरदास के पदों की जो आनुमानिक गणना की है वह कम से कम है और प्रामाणिक आधार पर है अतः चतुर्मे शका के लिए कोई स्थान नहीं है ।"^३

उनकी यह संख्या इस प्रकार है—

१—१८ वर्ष से ३१ वर्ष की आयु तक वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व— ४५०० पद (प्रतिदिन एक)

१—राजराजान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की शोध (प्रथम भाग)

पृष्ठ १४५ ।

२—वही पृष्ठ ५ ।

३—सूर निर्णय पृष्ठ १५५ ।

- २—श्रीनाथ कीर्तन में आठ पहर के आठ गीत प्रतिदिन—प्रतिवर्ष २८८० पद आठ पद कुमनदास के निकाल दें तो वर्ष में १४४० अथ १५६७ से १५७७ तक ११ वर्ष में— १५८४० पद
- ३—परमानन्ददास के कीर्तनियां नियुक्त होने पर सूरदास ने वार्षिक पद एक तिहाई २६६० कम-से-कम ६०० स० १५७७ से १६०२ (अष्टछाप स्थापना का संवत्) तक २५ वर्ष— २२५०० पद
- ४—अष्टछाप की स्थापना के उपरान्त वार्षिक संख्या का $\frac{1}{8}$ सूर ने रखा होगा—२३६० पद अथ १६०२ से १६४० तक—३६ वर्ष— १४०४० पद
- ५—सं० १६०२ से विठ्ठलनाथजी ने अनेकों वर्षोत्सव बढ़ाये—समस्त उत्सवों के दिनों का परिमाण ६ मास इसके २७० पद— ३६ वर्ष के उत्सवों के पद— १०५३० पद
- ६—सयनोत्तर दीनठा-आश्रय के पद—ये महाप्रभु के समय से ही—७३ वर्ष के ये पद— २६२८० पद
- ७—मीला सिद्धान्त आदि के अन्य पद और जोड़ें तो लाख-सवा लाख तक संख्या पहुँचेगी ।^१— ६३३५० पद

सूर-सागर का विषय—सूर-सागर सूर के मानस रत्नों का सागर है, किन्तु उसका भी एक आधार रहा है। वह आधार मुख्यतः 'भागवत' है स्वयं 'सूर' ने कई स्थानों पर स्पष्ट स्वीकार किया है—उवाहरणार्थ स्कंध १, पद २२५ में यह स्वीकृति है

अष्टम स्कन्ध—ये गजेन्द्र मोक्ष, कूर्पावतार, समुद्र-मथन, विष्णु का मोहिनी रूप धारण करना, वामनावतार तथा मत्स्यावतार का वर्णन है ।

नवम स्कन्ध—में श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध की कथाओं के आधार पर राजा पुरुखा और उर्वशी का उपाख्यान, अश्वि की तथा हलधर का विवाह, राजा अम्बरीष और सौमित्र अश्वि का उपाख्यान, भागीरथ द्वारा गंगा का आगमन, परशुराम-अवतार तथा श्री रामावतार का वर्णन किया गया है । सूर-सागर के इस स्कन्ध में गीतम-अहिम्सा का तथा इन्द्र को शाप देने का भी वर्णन है जो भागवत के नवम स्कन्ध में नहीं है । सूर को भगवान् कृष्ण का रूप अधिक प्रिय है । जैसे ही जैसे मुरुसी को राम का । पर सूर में राम-चरित्र का भी छुदयकारी चरित्र चित्रण किया है । राम के बाल-रूप-वर्णन में ही अपनी प्रवृत्ति के अनुसार वे तल्लीन हो गये हैं सीता का विरह वर्णन भी ललित है ।

दशम स्कन्ध पूर्वार्ध—सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है । सूर के कवित्व की कोमलता कमनीयता और कला, भगवद्भक्ति भावुकता और मध्यता, वैलक्षण्य विलास व्यंग्य और विदग्धता सबका स्रोत यही तो है जहाँ से यह भिन्न भिन्न भाव-आराधन फूट फूटकर सूरसागर में समाविष्ट होती हैं और उसके नाम को अस्मिता करती हैं । इस स्कन्ध के पदों की संख्या अन्य सब स्कन्धों के पदों की सम्मिश्रित संख्या के पाँच गुने से भी अधिक है । भागवत में भी यही स्कन्ध सबसे बड़ा है । इसमें भगवान् कृष्ण की अम-लीला, मथुरा से गोवृष्ट आना, छटी, पूतना-वध दक्षटामुर और तुलावर्त का वध नामकरण बन्धनप्राशन वर्षगाँठ वर्णन लेखन, धुटकों के बलबलना घाल-वेष्टा चन्द्र प्रस्ताव, कलेवा, माटी पाना मांजन चोरी गो-खोदन, बरस-यव-अपागुर वध द्रव्या द्वारा गोवत्स-हरण, राधाकृष्ण का प्रथम साक्षात् श्रीका राधा का दयाम कं धर जाना दयाम का गंधा यं धर जाना, गंधाधारण धैर्यव-वध कासिय वध, दावानल पाम प्रसन्न-वध, मुरली धार हरण पमपट, गार्वर्धन-पूजा दान-लीला, नेत्र-वर्णन रासलीला, राधाकृष्ण का विवाह मान-लीला, हिंडोल-लीला, वृषभ-केली-भीमासुर-वध, होरी-लीला, श्रीकृष्ण का अकूर व साथ

मथुरा जाना मुष्टिक पाणूर-वध कस-वध उग्रसेन को सिंहासना
सोम करना वसुदेव-देवकी के वधन करना यज्ञोपवीत कृष्ण का
कृष्ण के घर जाना भावि अतीव मनोहर और हृदयाकर्षक प्रसर्गों
के वर्णन में जितनी रुचि रमी है उतना अन्यत्र नहीं । प्रेम ही मूर
का प्रथमक्षेत्र था और उसके सभी रूपों का जितना विस्तृत और
वरिष्ठ वर्णन मूर-सागर में है उतना और कहीं नहीं ।

दशम स्कन्ध-उत्तरार्द्ध—दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में जरासंध
से युद्ध द्वारिका-निर्माण काष्ठयवन-दहन मुचकुन्द का उद्धार
द्वारिका प्रवेश रुक्मिणी हरण प्रद्युम्न विवाह ऊषा अनिदध
विवाह नृगराज का उद्धार बलराम का वज्र-गमन सीव-विवाह
कृष्ण का हस्तिनापुर जाना जरासंध-वध निधुपाल-वध शात्व
का द्वारिका पर आक्रमण दान्द-वध दन्त-वध भीम बन्धन
का वध सुदामा-दारिद्र्य-भजन कुरुक्षेत्र में आगमन और मन्द
यशोदा तथा गोपियों से मिलना बंद-स्तुति नारद-स्तुति सुभद्रा
भक्त का विवाह भस्मासुर-वध भृगु-परीक्षा आदि विषयों का
वर्णन है जो भागवत के ही अनुसार है ।

एकादश स्कन्ध—इसमें श्रीकृष्ण का उद्भव को बदरिकाश्रम
भजने नारायणावतार तथा हंसवतार का वर्णन है ।

द्वादश स्कन्ध—इसमें बाह्यवतार कल्कि-अवतार तथा राजा
पर्योक्षित और जनमेजय का कथाएँ हैं । अवतारों का वर्णन
भागवत के एकादश स्कन्ध के अनुसार है ।

सूर-पागर के काव्य की पृष्ठभूमि—मूरदास का जन्म वैशाख
पूर्व ५ मंगलवार सबत् १५३५ में हुआ मन् १४७८ ई० में ।
मृग्य स० १६६० के लगभग हुई मन् १५८३ ई० में । १०५
वर्ष के इस काल में आग्नाय इतिहास की एक घटाछदी व्यतात
हुई और एक नहीं कई परिवर्तन इस काल में हमें दिखायी पड़त
हैं—मूरदास का समय अकबर के राज्य-काल तक आता है ।
उमसे पूर्व की एक घटाछदी बहुत धार्मिक हलचलों और
ऐतिहासिक उद्यम पुष्पों की थी । समस्त युग सामन्तवादी था ।
छोटे-छोटे राज्य छोटे छोटे सामन्त । प्रत्येक राज्य और प्रत्येक
सामन्त की अपनी अलग मान-मान-मान । इनमें परस्पर भी युद्ध
होने थे और अब तक—अकबर से पूर्व तक विदेशी माने जाने
वाले दिल्ली के मुसलमानी शासकों से भी युद्ध होते थे । छुन-पुट

मुसलमानी राज्य बखिण में भी स्थापित होगये थे । इनमें भी इस युग की सामन्तवादिनी भावना थी । दिल्ली की केन्द्रीय-शक्ति मुसलमानी शासन-स्थापन होने के बाद एक बादशाह के बाद दूसरे व हाथों में प्रायः इतनी जल्दी-जल्दी गयी थी और राजकीय सङ्काइयाँ जहाँ तहाँ आये दिन इसी अधिक होती रहती थीं कि साधारण जन तो उनमें न रस पाता था, न बस । राजा-बादशाहों के लिए भी यह उचित ही था कि वे प्रजा को पीड़ित न करें—आये दिन यदि प्रजा का विनाश होगा तो राजा के हाथ क्या सवेगा । फलतः प्रजा को भी युद्धास वैराग्य था युद्धों से नहीं राजनीति से भी । वे अपनेकाय में व्यस्त रहते जो भी राजा होता उसे कर देकर अपनी छानि वे खरीदते रहे । इस काल की राजनीति-विषयक साधारण जन की भावना बही थी जा मन्थरा ने विरक्त होकर कैकेयी के समक्ष प्रबट की थी ।

बोड़ नृप होठ हर्माहि का हानी ।

चेरि छाडि अब हाव कि रानी ॥

राजनीति से विरक्त जनता अपने व्यवहारों में ही मान नहीं हानी गयी अपने व्यवसाय में भी डूबी । व्यवसाय था धर्म और यह व्यवसाय इस युग में जायन और व्यवहार का मुख्यधार बन गया था । राज्य और राजनीति से विरक्त मन के लिए ही धर्म आधार नहीं था वह तो राज्य और राजनीति से भी गहगई के साम बिपक गया था । राज्य और राजनीति से बिपक इसा धर्म का अत्याचार प्रजा धार जनता का भोगना पड़ता रहा था और इस धार्मिक अत्याचार का कोई न कोई प्रभाव मूरदास या मे भी अनुभव किया ही जागा । यदि इस युग की राजनीति और राज्य धर्म का आकर्षण न युक्त न हात तो इस काल का हो नहीं भारत व ही इतिहास का रूप कुछ भिन्न होता किन्तु ऐसा नहीं हुआ मरका । इसा कारण साधारण जन राजनीति से विरक्त हो नहीं हुआ विमुक्त भी हो गया । दिल्ली-वंग का जगदा-वंग का पा मांग युद्ध या हुआ पर यह जन नहीं गया । इसी कारण साधारण जन का अपना अभाव-भूति के लिए अपनी राज्य भक्ति का भावना का तुष्टि के लिए अपने प्रजाधर राजा का आकर्षणता घटात है—

भारतीय प्रजा क्या चाहती थी—यह चाहती थी अपने लिए राजा क्योंकि वह राजा में विश्वास करती थी राजतंत्र में यही थी, राजतंत्र का यह युग था ।

ऐसा राजा जो उनका प्रतिपादन करे—राजा की सत्ता का इस युग में यही तो प्रधान धर्म था ।

ऐसा राजा जो उन्हें कल्याण का भाग बताये—अन्यथा विवशी मुसलमान शासक भी राजा थे ही उन्हें यह भी राज्य-भक्ति प्रदान करता ।

ऐसा राजा जिसका पापिव वैभव भी महान हो—राज-कोप का सत्ता के वैभव से इस सामन्तवादी युग में गठ-जोड़ा था ।

ऐसा राजा जो धर्म की धुरा को धारण करने वाला हो क्योंकि मुसलमानी शासन ने धर्म और राजा को मिला दिया था ।

ऐसा राजा जो भगवान् का अवतार ही न हो उनका अवतार ही हो—राजा में भगवान् का अवतार होता है यह तो भारत में बद्धमूल धारणा थी ही किन्तु इस धारणा से तो वे मुसलमान शासक को भी अपनी भेंट बैठे हो वे पर भगवान् के उस अवतार पर अभ्युदया जा हो रही थी तो भगवान् का अवतार ही उनकी सृष्टि कर सकता था ।

राजा ऐसा भी हो जा उनका गुरु हो सके—इस युग में सन्त मत के द्वारा गुरु का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था—‘निगुरा’ व्यक्ति हीन दृष्टि से देखा जाता था । कबीर को भी इसी भावना के आगे हार कर गुरु करना पड़ा था ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रतिमा ने और गोसाईं विठ्ठलनाथ की व्यावहारिक बुद्धि ने इस समस्त भावदयकताओं की पूर्ति का एक मूल रूप ‘पुष्टिमार्ग’ में सजा कर दिया—

महाप्रभु और गोसाईं तथा उनके पुत्र भगवान् के अवतार ही नहीं स्वयं भगवान् हुए ।^१ इनके द्वारा त्रिविध भगवान् का सम्बन्ध प्रस्तुत हुआ—

१. हरि गुण एक रूप गुरु जान—सुवास । मिलद्विनाथाजी के जन्म के समय सुवास ने यह पद गाया—

धी जलाम हीनै मोहि बरार्द

१ भूम भगवान्—स्वयं कण्व

२ विग्रह भगवान्—कण्वजी की विविध मूर्तियाँ

३ गुप्त भगवान्—बल्कभाचार्य जी तथा गोसांईजी^१

इतमें राज्य-वैभव की प्रतिष्ठा भी बड़ी मुक्ति से की गयी। भगवान् के विग्रह को 'ठाकुर' कहा गया। 'ठाकुर' इस युग में राजा के लिए ही प्रयोग में आता था। सूरदासजी ने भगवान् को ठाकुर बताया उनका राज्य-शासन का ही उत्कृष्ट रूपक से किया है।^२ बल्कभाचार्य तथा गान्धामी बिठुलनाथजी ने ठाकुरजी की सेवा के विधान में पूष राजसी वैभव का समावेश किया। ठाकुरजी के विविध वर्णन राजमित्र वैभव और ऐश्वर्य को प्रकट करते हैं। मणि माती हीरा मूंगा स्वर्ण से कम का उत्कृष्ट तो हुआ ही नहीं। और यह वर्णन बाल्पनिक नहीं यथार्थ था क्योंकि बल्क-सम्प्रदाय के मन्दिरों में वह उपलब्ध था।

श्री लक्ष्मण गुप्त द्विज के राजा कीजें क्या बख्त
बहुरि कृष्ण अवतार सिधे हैं, सरन तुम्हारे आई।
बोटि-बोट बलि जेव ब्याल प्रगटे धी बहुराज,
बिरजीये भक्तजी को सुत; श्री बिठुल तुम्हारे।
पिरपरनास को दाढ़े बखाने, 'सूरदास' बलि आई।

१ सूरदास ने सेवा-विधि का उल्लेख जिस पद में किया है, उसमें इस दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास है—

भयो पीपास मूर्ति त्रिभुज जीये
मनुष्य देह की बहि है ब्याधे।
गुल-सेवा करि मक्ति बसध
उठिऊँ प्रातः गुरुन सिर बाधे
प्रातः समै श्रीकृष्ण ही स्थाने
जो ठाकुर का बरै प्रनाम
सेवा की यह बहुराज रीति
श्री बिठुलसो रीति प्रीति' आदि।

२ यथा—

हरि त्वे ठाकुर और भवन की।

तथा

हरि भवन की प्रति ठाकुर। आदि

इस विधि से राजनीतिक राज्य विधान के अन्तर्गत एक धार्मिक राज्य-विधान इस युग में खड़ा हो गया। धार्मिक और स्वच्छा पर निर्भर करने वाला होकर यह मन में गहरा प्रभाव प्रस्तुत करने वाला था—इसी ने यक्षजनों को 'उन मन धन सब गोसाईंजी के अर्पण' करने को बाध्य किया।

सूरसागर का विरलेपण—

इस पृष्ठभूमि पर सूरसागर बना और इस सबकी मिला-मिलाहट सूरसागर में बिद्यमान मिलती है। सूरसागर के काव्य के विरलेपण से हमें उसमें तीन तत्व मिलते हैं—

१—पुराण-कथा २—वर्णन-वमश ३—भाव-सम्पत्ति

इसमें 'पुराण-कथा' तो भागवत के अनुसार है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है उसका सम्बन्ध मूल कण्ठ से है। वह कण्ठ जो परम तत्त्व है और जिनके अवतार ब्रह्म और विठ्ठल हैं। पर उसमें जो वर्णन-विस्तार, विरादता और राजसिक्ता, वह मन्दिरों और आचार्य गुरुआ के बेमय के आधार पर है। भगवान के रूप की और शृङ्गार की कल्पना में पौराणिक शृङ्गार के बीज के साथ विस्तार उस शृङ्गार का है जो प्रतिदिन मन्दिर में ठाकुरजी का किया जाता था। बातों से स्पष्ट है कि सूरदासजी अपने कीर्तना में जैसा शृङ्गार ठाकुरजी का होता था वैसा ही वर्णन करते थे।^१ इस कथा और वर्णन-वमश के साथ 'भाव-सम्पत्ति' का बड़ा मनोरम समागम है। यह भाव-सम्पत्ति आचार्य और गोसाईंयों के प्रति भक्ति की प्रेरणा से प्रभावित थी। स्वयं सूरदास ने अपनी भाव-सम्पत्ति की कुछही एक पद में दी है उसकी पुष्टि और व्याख्या 'बातों' से भी होती है कि सूरदास की रचना का मूल मर्म महाप्रभु ब्रह्म-आचार्य की भक्ति ही थी।^२ यह व्यक्तिगत भक्तत्व

१. देखिए प्राचीन बातों रहस्य में सूरदास जी बातों का 'बातों प्रसव १' 'ये तीनों भाव करे जो—ये सूरदासजी, जसा शृङ्गार धक्कीत-शिवजी को होता है, तैये ही ब्रह्मच मूरुआ करत हैं।—पृ. २

२. बातों प्रसव जो है—“सो ता समय सगरे बँध्याव थी गोसाईंजी के पास ठावे हने। उरमें से चबमुबदास के कटौ जो—सूरदासजी परव मगतरीव हैं, और सूरदासजी ये भी ठाकुरजी के लड़ावधि पद भिये हैं परन्तु सूरदासजी ये श्री आचार्यजी महाप्रभुन को जय बरवन नहीं कियो।

पर इसनी गहरी थी कि सूर की कृष्ण-लीला के मौलिक वर्णनों में वात्सल्य के बिना जैसे बिटुलभाष के ही बाल-जीवन के चित्र प्रतीत होने लगते हैं । इस गोपयन और गोवर्द्धनधारी के छाड़ी-कीर्तनियाँ सूर के इन वात्सल्य वर्णनों में जो तन्मयता और भक्ति है और उनमें काव्य-वस्तु की जो यथायथा है वह उनके किसी अन्य वर्णन में नहीं है । इसी कारण सूर क वृरसागर में काव्य-वृत्ति का विकास कुछ इस प्रकार सिद्ध होता हुआ दिखाया पड़ता है

यथार्थ स्तर—सयोग भावमय स्तर—वियोग बौद्धिक स्तर
भाव-तन्मयता भाव-माधुर्य भाव-समृद्धि
वात्सल्य

सूरसागर का समस्त काव्य वात्सल्य तथा शृंगार-रस से युक्त है । इन रसों की कृष्ण स्थिति उपरोक्त बिधि से ही है वात्सल्य उसके उपरान्त सयोग-शृंगार तदनन्तर वियोग । 'वात्सल्य' में कृष्ण की बाल कीड़ाएँ हैं । जिनमें भक्ति की भाव-संयाजना के साथ बालक के मानसिक विकास का सूत्र भी परिणामित होता है । इस वात्सल्य के यथार्थ में आरम्भ से ही गोपियों के प्रेम का अवलम्ब दृष्टिगत होता है । पहले यह गोपी-कृष्ण प्रेम अत्यन्त साधारण भरातल पर है । गोपियाँ कृष्ण को चाहती हैं । कृष्ण गोपियों के घर में घुस कर उपद्रव करते हैं । मासन बुराते हैं । कृष्ण इस समय बालक ही हैं किन्तु उमका कृष्ण पर प्रेम यमोदा के प्रेम से मिश्र प्रतीत होता है । यह प्रेम कुछ विकसित होते ही 'राधा' सामने आ जाती है और गोपियों के प्रेम की पृष्ठभूमि पर ही राधा-कृष्ण के प्रेम की सीला होने लगती है । इसकी चरम परिणति 'राम' में होती है तभी 'वियोग' हो जाता है । इस वियोग का चरमोत्कर्ष 'अमर-गीत' में होता है । वात्सल्य में भावतन्मयता है कृष्ण की बाल-लीलाओं के अवलम्ब के साथ । संयोग में भाव माधुर्य है वय सयि और अंकुरित जीवन के साथ मुरली और रास

यह भक्ति के सूरभास भी रहे जो - मैं तो नपरो अब भी आबाययी वो हो
बलन दिखे है । आ मैं कजु म्याये हणन ला म्यायी करलै । परि ठैवें सोने पछे
ह, सो मैं तेरे पास बदन ही, तो का कीर्तन के अनुसार नपरे कीतन आनिके सो पर
राम बिहाये—मरीछी एह इन चरणन केने । ५० १९ प्राचीन वाद्री रहस्य ।

का इस संयोग में विशेष स्थान है । इन सबमें भाव का ही अस्तित्व प्रधान है । इस काल की क्रीड़ाओं में किसी का भी अवरुद्ध यथार्थ नहीं प्रत्येक यथार्थ के संकेत में श्रुतिगत कल्पना से भावोद्भूत है जिसमें मधु और माधुर्य है—जिसमें गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण दोनों ही मधुकटे हैं—तब वियोग में यह भाव मुग्धता तो कम हो जाती है बौद्धिक पक्ष प्रबल हो उठता है । बौद्धिक होकर गोपिमा अपने प्रेम-उन्माद के लिए युक्तियों तथा तर्कों का भी सहारा नहीं लेती हैं ।

सूरसागर का काव्य—

इस विश्लेषण से सूर के काव्य के तन्तुओं का परिचय मिल जाता है । किन्तु सूर का काव्य इन तन्तुओं से निर्मित होते हुए भी इन्हीं में नहीं है । इन तन्तुओं को जो मानव-कल्याण की महत् भावना अभिमण्डित किए हुए है वह न समय की परिवर्ति से घिरे हुआ है, न सम्प्रदाय की सीमाओं से । मानव में उसके धारीरिक सौन्दर्य को पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ मानसिक मुग्धता अवतीर्ण करते हुए आध्यात्मिक उपलब्धि इस काव्य के द्वारा सम्पन्न होती है । उस पर आज विचार नहीं किया जा सकता ।

सूरसागर : कीर्तन-काव्य

सूरसागर कीर्तन-काव्य है। काव्य का यह नया रूप अकबर के समय में परिपुष्क हो गया था। आईने अकबरी में सत्रह प्रकार के गायकों का उल्लेख हुआ है। इनमें १० वें प्रकार पर हमारा ध्यान विशेषतः चकता है। ये हैं कीर्तनियाँ। आईने अकबरी के संस्करण ने 'कीर्तनियाँ' शीर्षक से लिखा है। कीर्तनियाँ बाह्य होते थे प्राचीन वाद्य यंत्रों का उपयोग करते थे। ये सुन्दर बालकों को स्त्रियों का रूप धारण कराकर उनसे कृष्ण की स्तुति और उनकी लीलाओं का गान करते थे। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सूरदास के समय में 'राम' और 'कीर्तन' में कोई अन्तर नहीं था। रामक की प्राधान परम्परा कृष्ण की लीलाया से संयुक्त होकर अकबर के समय में कीर्तन कहलान लगी थी। रामक की गेयता और अभिनयता तथा नर्तन तीना का हो इसने सुरक्षित रखा है। कीर्तन-गायक कीर्तनियाँ कहलाते थे। यह बात स्पष्ट है कि बार्ता में स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य महाप्रभु ने सूरदास का शोभायगी का कीर्तनिया नियुक्त किया था। आईने अकबरी के संगीतज्ञों के प्रकारों से हम जाननिया का सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है और स्वल्प भी स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं कीर्तनिया को प्रणामी में लिखा गया काव्य कीर्तन-काव्य कहलाता है। गूर ने इसी परिपत्ती में सूरसागर प्रस्तुत किया। कीर्तन-काव्य का प्रमुख उद्देश्य तो शोभायक और रम-परिपान हा हाता है किन्तु राम अथवा रामक की भूमि पर लड़ हान के कारण कथा का मूढत तत्त्व भी रहता है। आईने अकबरी से कीर्तनियाँ के कीर्तन पर यह प्रमाण पड़ता है कि

१—कीर्तन संगीत का ही प्रकार है गेय है।

२—स्तुति युक्त होते हैं और

३—प्राप्ताया का भी गान करते हैं।

शीलार्थों के उत्प्रेष के कारण कीर्तन-काव्य में कथा का कोई न कोई बिन्दु रहता ही था। अतः किसी कथा बिन्दु के आश्रय से ही माधोप्रक और रस-परिपाक कीर्तन-काव्य में होगा। यह कथा-बिन्दु कीर्तन-काव्य में समाविष्ट होगा तो उसके पूर्व एक पीठिका तथा भूमिका भी अपेक्षित होगी। कीर्तन के लिए अभिप्रेत भाव विमुग्धता की स्थिति तक पहुँचने के लिए जो और उस भावसम्पत्ति के केन्द्र कथा बिन्दु की पीठिका के लिए एक संक्षिप्त कथावस्तु अनिवार्य हो जाता है। फलतः कीर्तन-काव्य में कथा-काव्य पीठिका अभिप्रेत कथा-बिन्दु उत्प्रेरित भाव-समुत्पन्न पद-समूह—अत्येक पद समूह से क्रमशः भावोत्कर्ष। वस्तुतः तो कीर्तन-काव्य में दो ही भंग स्पष्ट परिलक्षित होते हैं, एक तो प्रधान पद-समूह जो विविध रागों में होते हैं। दूसरा भंग है कथा-पीठिका। कथा-पीठिका बिबरानात्मक होती है अतः बेंची-सची। पद-समूह वाला भाग अत्यन्त लचीला होता है उसमें चाहे जिसने पद उसी भाव की परिपुष्ट करने वाले सन्निविष्ट रह सकते हैं। इन पदों में ही कीर्तन काव्यकार कवि की प्रतिभा प्रकट होती है।

सूरसागर के स्वरूप के सम्बन्ध में आज यह कहा जाता है कि वह द्वादश स्कंधात्मक नहीं हो सकता सप्तहात्मक होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'सूरदास के नाम पर बहुत से पद चीपाई छंदों में बद्ध मिलते हैं। कई प्रतियों में य चीपाई वाले पद प्राप्त नहीं होते और कई में मिल जाते हैं। सूर-साहित्य के समालोचकों के लिए यह एक समस्या हो रही है। मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदों के बीच रास-लीला आदि के समय कथा-सूत्र को आड़ने के लिए य चीपाई बद्ध पद बाध में आड़े गये होंगे। काला के दोहों का कथा-सूत्र भिलाने में कुदाल लाम ने इसी कीदाल का सहारा लिया था।' इससे स्पष्ट है कि ये उसे सप्तहात्मक मानते हैं।

सूरसागर का सप्तहात्मक मानने के पक्ष में एक तर्क तो यह दिया जाता है कि सप्तहात्मक संस्करण ही अधिक मिलते हैं दूसरा कि सबसे प्राचीन प्रति सप्तहात्मक है तीसरा कि सूरदास ने प्रबन्ध-योजना से सूरसागर की रचना नहीं की उन्होंने कीर्तन की आब-इयक्तानुसार पद रचना की, और चौथे कि सम्प्रदाय में सप्तह रूप में ही उनके पद प्राप्त हैं। वस्तुतः इनमें से कोई भी कारण संतोष

अनक नहीं ।

संग्रहात्मक प्रतियों की अधिक संख्या का कारण उपयोगिता और सुविधा है । सूरसागर का एक उपयोग तो संगीतज्ञों के लिए था । दूसरा भक्तों के लिए । तीसरा कीर्तनियों के लिए । स्पष्ट है कि संगीतज्ञों और भक्तों के लिए किये गये संग्रहों में चुने हुए पद लेकर काम चलाया जा सकता था । ऐसे व्यक्तियों की संख्या ही अधिक होती है फलतः संग्रहात्मक सागर अधिक प्रस्तुत हुए । कीर्तनियों की संख्या कम होती है अतः द्वादश स्कंधात्मक प्रतियाँ कम हैं ।

मध्यसे प्राचीन प्रति संग्रहात्मक है इसलिए सूरदास के सागर को संग्रहात्मक माना जाय यह तर्क इसलिये उचित नहीं प्रतीत होता कि ऐसे संग्रहों में बहुत थोड़े पद ही मिलते हैं । निश्चय ही ये थोड़े पद किसी बहुत प्रथम में संलिये गये होंगे । यदि वहीं सम्पूर्ण सूरसागर मिलता और उसका रूप संग्रहात्मक होता तो इस तक में कुछ बल हो सकता था । स्थिति यह है कि सबसे प्राचीन संग्रह सूरपदावली नाम स जयपुर के पाषीपाने में है । यह सम्बत् १९३६ का लिखा हुआ है । इसमें गुटकाकार १६३ पत्र हैं जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर १३ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में २० अक्षर हैं । इसी पाषी में २००-३०० से अधिक पदों की सम्भावना नहीं हो सकती । फिर से १६८१ की प्रति उदयपुर में पद संख्या १६३ १६६५ बानी में ४७० १६६८ बानी में ६१५ आदि आदि । इन प्रतियों के सम्बन्ध में श्री अजरधन्द नाहटा का मत समीचीन है ।

इन प्रतियों में से किसी में सूर के पदों की संख्या २०० से अधिक नहीं । उदयपुर की प्रति में पद संख्या ८१२ है ए० १६६७ की प्रति इसके आधार पर श्रीयुग मेनारियाजी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सूर ने एक हजार से अधिक पद नहीं लिखे । इसके प्रमाण में वे बीरासी वेषणक का बाली का सहस्रावधि राज्य उपस्थित करते हैं जिसका अर्थ उनके अनुसार एक सहस्र है । उनका यह पक्ष ठीक नहीं जान पड़ता । प्राचीन प्रतियों में सहस्र से अधिक पद नहीं लिखे यह बचम युक्ति-योगत नहीं । यह स्पष्ट है कि इन प्राचीन प्रतियों में केवल चुन हुए पद ही हैं सम्पूर्ण पद किसी में नहीं ।

प्रबन्ध-योजना सूर के समक्ष नहीं थी ऐसा नहीं माना जा सकता है । एक तो बाताई में उल्लेख है कि दीक्षा के समय सूरदास को भागवत की सचीत्र सीला स्फुरित हुई । दूसरे कृष्ण की सीलाओं का तो एक क्रम भागवत के अनुसार निश्चित है जो सीला-मद रखने चलेगा उसे समस्त सीला क्रम का ज्ञान होगा ही । वह पद किसी भी समय के लिये सीला क्रम के अन्दर उसका स्थान निश्चित हो ही जायगा । अतः कृष्ण चरित्र के सम्बन्ध में किसी प्रबन्ध-योजना को पूर्वतः बमाने का प्रयत्न ही व्यर्थ है । वह योजना तो प्रस्तुत थी और भागवतानुयायी सम्प्रदाय के कवियों को उसी योजना के अन्तर्गत रचनायें प्रस्तुत करनी थीं, उसी के अनुसार सूरदासजी ने भी अपने पद प्रस्तुत किये ।

सम्प्रदाय में सेवा तथा उत्सव के अवसरों की दृष्टि से जो सग्रह मिलते हैं वे स्वयं संप्रह हैं, और उनमें अष्टछाप तथा अन्य बहुत से कवियों के पद भी हैं । उन पदों में ही सूर के कवित्व की समाप्ति नहीं होती । अतः उनके आधार पर सूरसागर का स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता । द्वादश स्कंधात्मक सागर के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि

१—कृष्ण की सीलाएँ स्वयं एक क्रम रखती हैं और उन्हें स्वभावतः उसी क्रम में स्थान पाना चाहिए । अतः 'दशमस्कंध' का स्वरूप तो प्रबन्ध-योजना के अनुरूप होगा ही ।

२—उस युग में दशावतार वर्णन करना एक प्रसिद्ध परिपाटी थी । जो शक्ति और सम्प्रदाय से भी सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथ नहीं होते वे उनमें भी दशावतार वर्णन मिल जाता है । ऐसी दशा में 'कृष्ण' का वर्णन करते हुए सूरदास उस वर्णन को कैसे त्याग सकते थे । दशमस्कंध से पूर्व के स्कंधों में इन्हीं अवतारों का वर्णन है । इस सम्बन्ध में डा० ह० प्र० द्विवेदी का यह कथन उल्लेखनीय है —

श्रीकृष्ण सीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है । ऐसा जान पड़ता है कि ग्यारहवीं—बारहवीं शताब्दी में दशावतार वर्णन बहुत आवश्यक समझा जाने लगा था । मूल रासो में भी दशावतार वर्णन पर कुछ कविताएँ अवश्य रही होंगी । वर्तमान रासो में भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है ।

कव्य-परिचय से तो दशावतार का विशेष सम्बन्ध है जैसा जयदेव की कृति से भी सिद्ध होता है । अतः सूर को कव्य-परिचय की पीठिका के रूप में विविध अवतारों का उल्लेख करना ही पड़ा होगा ।

२—सूर के कीर्तन-काव्य के लिए 'कथा-पीठिका' आवश्यक ही है । और कथा-पीठिका कथानक-छंद में ही ठीक दी जा सकती है । भक्तिपूर्वक की सुदृढ़ परम्परा में पद्यटिका भवना पद्यों छंद इस प्रकार का कथानक छंद था—यह पद्यटिका गायकों के भी उपयोग की वस्तु थी । क्योंकि यह प्रत्येक राग में गायी जा सकती थी । जिनदत्त सूर के उपदेश रसायन रास के टीकाकार ने बताया है —

अथ पद्यटिका रस माथा पोड्यादादा
अयं सर्वेषु रागेषु गीयते पीति कोविदै ।

सूरदास का 'राग बिसाबस' बहुधा यह १९ मात्राओं की पद्यटिका ही है जो कथातत्त्व को प्रस्तुत करने के लिए दीर्घ परंपरा से उपयोगी थी, और उसका ऐसा उपयोग उस परंपरा से संपर्क रखनेवाला कवि ही कर सकता था । ऐसा कवि सूर ही हो सकता था क्योंकि आगे यह परंपरा निर्जीव होती चली गयी । तुलसी में यह चरम पर अवश्य पहुँची । फलतः जिन बीपाई प्रभृति बघों की किसी अन्य की रचना समझ गया है, वह युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता ।

अतः स्पष्ट है कि सूरदास ने सूरसागर की कीर्तन-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें कथा-काव्य का ढाँचा था किन्तु प्रबान तत्व था वह भावोद्भव, जो गेय पदों से प्रस्तुत होता था, और जिसमें पद अथवा छंदों और चरणों की सीमा का कोई प्रतिबंध नहीं था । कवि को स्वतंत्रता होती थी कि वह किसी एक भाव को प्रभावित पराकाष्ठा तक पहुँचाने के लिए चाहे जितने पद रच सकता था । ऐसे कीर्तन-गानों में पुनरुक्ति भी प्रभाव-मुक्त हो सकती थी । अतः सूरसागर 'कीर्तन-काव्य' ही कहा जायगा ।

इस विवेचना के उपरान्त उस आपत्ति का भी स्वयमेव निरास हो जाता है जो यह कहती है कि यदि सूरदास की द्वावट स्वर्गात्मक सागर की रचना करनी थी तो परस्पर स्तम्भों में

इतना अन्तर न होता । दशमस्कन्ध में जहाँ ४३०६ पद हैं वहाँ शेष में क्रमशः पद संख्या इस प्रकार है —

प्रथम स्कन्ध—३४३ पद । इसमें २२३ पद विनय के हैं शेष में भागवत प्रसंग का आरम्भ है ।

द्वितीय स्कन्ध—३८ पद

तृतीय स्कन्ध—१३ पद

चतुर्थ स्कन्ध—१३ पद

पंचम स्कन्ध—४ पद

षष्ठ स्कन्ध—८ पद

सप्तम स्कन्ध—८ पद

अष्टम स्कन्ध—१७ पद

नवम स्कन्ध—१७४ इसमें राम चरित विषयक पद विशेष हैं तथा उपसंहार में एकादशस्कन्ध—४ पद

द्वादश स्कन्ध—५ पद

क्योंकि प्रथम भी भूमिका स्वरूप है वशावतार काव्य की परिपाटी में और अन्त के दो उपसंहारात्मक । इन अन्य स्कन्धों का इतना छोटा होना ही यह सिद्ध करता है कि ये भूमिका स्वरूप हैं और कीर्तन काव्य की स्थापना को सिद्ध करते हैं ।

कीर्तन-काव्य साहित्य का एक नया रूप है जो एक सामयिक आवश्यकता के कारण सूर द्वारा उद्भाषित हुआ । मूलतः यह संगीत के क्षेत्र से सम्बन्धित था, किन्तु सूरदास के महाकवित्व के संयोग से यह साहित्य में मान्य हुआ ।

काव्य के स्वरूप के भिन्न हो जाने के कारण ही सूरसागर भागवत अनुसार होते हुए भी भागवत का न तो अनुवाद है, न मक्षिका स्थान मक्षिका रूपेण अनुसरण । भागवत के ठाँवे में महाकवि ने मुक्त हृदय से काव्य रचना के अनोखे और उत्कृष्ट चमत्कार प्रस्तुत किए हैं ।

भक्त कवि सूरदास

सूरदास नाम के कई कवियों का उत्कल साहित्य के इतिहासों में मिलता है। ये सभी भक्त हुए हैं। बल्कल सम्प्रदाय के सूरदास और बिल्कलमयल सूरदास के वृत्त सबसे अधिक भुक्तमिल गये हैं। यही काउथ है कि बल्कली सूरदास को अपने हाथों अपनी भाँसे फोड़ने बाका तथा कृष्ण से ललकार कर यह कहने वाला माना जाता है कि —

बाँह छुड़ायेबात ही निबल जानि कै मोहि ।
हिरदै से जब जाहुमे भरव बढौंगो तोहि ॥

सूरदास भदनमोहन के प्रेम से इन्हें अकबर का दरबारी भी किसी ने बताया था। जाने अकबरी में रामदास भवने के पुत्र सूरदास से भी भ्रम करके इन्हें अकबर का दरबारी समझा जाता है। किन्तु पथार्थतः वह जो महाकवि हैं वह ब्रजवासी सूरदास कभी पुष्टिमार्गी हैं। उनका जीवन वृत्त जब प्रायः सुनिश्चित था है। वह केवल इतना है कि —

दास सीही से पैदा हुए अम्मान्ध थे। माता-पिता के दुःख होकर वे मयुरा आये, यहाँ से गीमाट पर जाकर राय पर रहकर ये शिष्य बनाते थे। संगीत के लिये दिक फैल रहा था। एक बार महाप्रभु बल्कलमाचार्य । यही उन्होंने सूरदास को अपने सम्प्रदाय में दासजी महाप्रभु बल्कलमाचार्यजी के साथ मोबर्दन मंदिर में ठाकुरजी का कीर्तन करने और समस्तसरोवर पर रहने लगे। यहाँ से कभी । यहीं परासोली में इनकी मृत्यु हुई।

इन्हीं सूरदासजी के सम्बन्ध में भक्तमाल में नामादासजी ने लिखा है —

उत्ति चोज अमुप्रास बरन अस्वित अति भारी ॥

बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक भारी ॥

प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरिस्तीलाभासी ॥

आम कर्म पुन रूप सबैरसमा भु प्रकासी ॥

विमल बुद्धि गुण पीर की जो बहु गुण अवलमि बरे ॥

सूर कवित्त सुनि कौन कवि, जो महि शिखात्मक करे ॥

इन्हीं के संबंध में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि सूर सूर तुलसी ससी उदयन केशवदास इन्हीं के लिए यह प्रसिद्ध है कि तानसेन ने कहा था —

किन्हीं सूर को सर लम्बी किन्हीं सूर की पीर

किन्हीं सूर की पद लम्बी तनमन बुनत तरीर ।

भक्त महाकवि सूरदास के काव्य के संबंध में जो कुछ कहा जाय सोझा है ।

इनके जीवन-कृत से ही विदित होता है कि वे बल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व भी वाक्य रचना करते थे इनके उक्त समय की रचनाओं में दीनता का भाव विशेष रहता था । जब बल्लभा नायजी ने इनके पद सुने तो कहा—सूर हूँ विधियात काहे हा ? तब उन्होंने स्तीला भेद बताया—

‘धीबल्लभ प्रभु तत्त्व सुनाबो स्तीला भेद बताबो

ता दिन तैं हरि-स्तीला पाई, एक लख पद बंद’

यह स्तीला-भेद ही सूर के काव्य का प्रधान स्वर है । स्तीला-वचन करना कवि ने आरम्भ किया और भगवान कण की समस्त स्तीलाओं को उसने अधुनतम जनबाणी में उतार दिया । इस स्तीला-दर्शन से कवि ने निराकार को साकार कर दिया—कवि ने कहा है—

अविगति गति कछ कहत न भाई

मिरासम्भ मन नकत भाई

ताते मूर समुण पद भाई ।

सूरदास के काव्य के निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कवि, वाक्क और भक्त एक साथ हैं । कवि सूरदास ने कल्पना

सोक से अनेकों रत्नाभरण भावोद्दीपन के लिए प्रस्तुत कर दिये हैं जिससे काव्य में सौन्दर्य की अनुठी जगमगाहट आ गयी है। गायक में रचना में स्वर, माधव और आत्मानुभूति भर दी है, भक्ति ने सौन्दर्य और आत्मानुभूति को अपने दृष्ट देव पर न्योछावर कर दिया है। प्रत्येक कल्पना, प्रत्येक स्वर दृष्ट की व्याप्ति से अलौकिक और मुग्धसापूर्ण हो आया है। किन्तु सूरदास दर्शन और तर्क को भी अधिकार पूर्वक प्रयोग करने में दक्ष हैं—इसी कारण उनमें एक बड़ी विशेषता यह मिलती है कि गंभीर होते हुए भी वे विनोदशील हैं—

‘सूर विनोदी रे मधुवमिया’

यह विनोद की भावना सूर के काव्य में आदि से अन्त तक व्याप्त है और जहाँ जिसनी अधिक गंभीर स्थिति है, वहाँ उतना ही विनोद उसमें से भर पड़ता है। सूर के काव्य में विनोद की इस स्थिति को आनुपातिक भी संभवतः विज्ञाया जा सके—

‘मैया कबहि बईगो चोटी

किती बार मोहि दूष पिअत भई

यह अजहूँ ह छोटी

जो विनोद बाल स्वभाव से चित्रण के साथ गुणा हुआ है वह बाल-कूट में यदि मुसरित हा ला काई आश्चर्य नहीं पर धनार के प्रसंग में कबि यह कहना मिले—

बुझत भ्याम कौन तू गोरी

वहाँ रहत काकी है बेटा देखी नहीं

कबहुँ ब्रज जोरी,

हम जाहे को ब्रज तन आवत जैसत रहत आपनी जोरी

बानन सुनत रहत ब्रज छोटा करत रहत दधि भासन जोरी ।

तुम्हारी कहा जोरि हम सैंहें सोंकें बलहु मंग मिलि जोरी ।

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमणि बातन भुरइ राधिका जोरी ॥

तब बिनाय या रूप कुछ धीर हो जाता है और जब धीर विरह पाड़ा में भी गंभीर तब वर्षा के साथ विनोद को समोये रहती है तो सूरदास के महाकवित्व पर पट्टा बढ़ जाती है।

सूरदास जिस युग में हुए वह भक्ति के तीव्र आन्दोलन से आन्वेषित था। भक्ति के बितने ही प्रकार, बितने ही स्वरूप,

जितन ही संप्रदायों के रूप में इस युग में जहाँ-तहाँ पनप रहे थे ।
 तत्सी-मथुरा आगरा के ब्रज-क्षेत्र में चैतन्य निम्बार्क
 इतहरिवंश के पीठ यहाँ स्थापित हो चुके थे । इनके स्वर बज के
 गतावरण में गुंज रहे थे । इन समस्त सगुण भक्तिवादी प्रकृतियों
 ने पृष्ठभूमि में निर्युण भक्ति की भी अलख धारा विद्यमान थी ।
 इन सभी से सूरदास का परिचय किसी न किसी रूप में हुआ ही
 होगा । किन्तु कवि के निजी जीवन का दुर्भाग्य उसकी प्रज्ञा
 झुठा और उनके अपने जीवन के सरक्षण में पड़े-पड़े ईश्वर की
 अनुकंपा की अनुभूति उसे दैन्य के लिए ही विवश करती थी ।
 उन्हें किसी संप्रदाय विषय की धारण अपने लिये आवश्यक प्रतीत
 नहीं हुई । अतः व्यक्तिगत भूमि पर सहे होकर उन्होंने दैन्य
 और विनय के पद रचे और गाये । इनमें आत्म निवेदन तो है
 और आत्मिक आस्था से बिरसि है । तभी बल्लभाचार्यजी ने
 छकार कर सूरदास की प्रतिभा को एक नई दिशा दिखा दी ।
 उनकी प्रतिभा का अनुराग जो विराग से युष्क हो चला था, पुनः
 जागृत हो उठा—जैसे गोपियों के महान उन्होंने अपने ही
 स्वीयधन को गाया—

भक्तियाँ हरि वरसन की भूखीं

कसे रहें रूप रस माती ये बतियाँ सुनि रूखी

भक्त को धरि मिले साकार । इस साकार का रूप—रस रूप
 और रस तथा रूप का रस कवि को प्राप्त हुआ रूप आलबन
 और उद्दीपन बन गया । रस उम्रमें से परिपक्व होकर उबल उठा ।
 रूप के सौंदर्य—विधान में से रस प्रवाहित हुआ । सूरदास का यह
 रूप—सौंदर्य गत्यात्मक है—लीलात्मक है जिसका केन्द्र—बिन्दु 'रास'
 है । यह रास सांप्रदायिक दृष्टि से भी चरम उपलब्धि है और
 गतिविधि को चुनोती है । रूप और गाने का सौंदर्य दाम्य से अधिक
 यहाँ व्यक्त किया जा सकता है ? कण्ठ ब्रह्म हैं वे गोपियों की
 आत्माओं को अपने महारास में सम्मिलित करने के लिये ही
 उद्यतीत हुए हैं । महारास के लिए गोपियों की पात्रता स्वस्व
 समर्पण में ही मिल हो सकती है । यह सब भी कृष्ण के अनुग्रह
 में ही पृष्टि से ही—तभी तो सूर का माग पृष्टिमार्ग है । फलतः
 कृष्ण को ही गोपियों के पास आना पड़ेगा—कृष्ण घाल रूप में
 गोपियों से पाम पहुंचते हैं और उन्हें आकर्षित कर सेते हैं कृष्ण

भरनि जीव जलजल के मोहे नभ मडल सुर बाके ।

+ + + +

नारामभ भुनि सुनि ललघाने, स्याम अघर सुनि बैन
कहत रमा सों सुनि रा प्यारी, विहरत हूं मन स्याम
सूर कहाँ हमको बैसो सुस, जो विलसति प्रब्रजाम

सौंदर्य को गति प्रदान करता हुआ भक्त महाकवि उसे विविध छीलाछों में से निखारता हुआ उसे वास्तव्य और धुंगार रस से पगाता हुआ सयोग के चरम उत्कर्ष स्थल 'रास' में सपूर्ण दिव्यता और वैभव के साथ सपूर्ण शक्ति से प्रस्तुत कर देता है—यही गोपियों का वह सर्वस्व समर्पण करा लेता है, अब कृष्ण ही गोपियों के लिए माता—पिता—पति—पुत्र सब कुछ है। मुरली की ध्वनि से जकड़ी गोपियां जब विवश होकर कृष्ण के पास पहुँचती हैं तभी कृष्ण उन्हें उपदेश देने की ठिठ्ठाई करते हैं।

पतिव्रता और कुलघील वाली होकर यह क्या पराये पुरुष के पास इतनी रात गये 'बली आर्यी-लौटा भाग्यो'। में तुम्हारा कौन होता है ? भाग्यो ! और अब क्या गोपियों के लिए लौटना संभव है ! रास में सम्मिलित होते ही वे जीवामृत हो गयीं परमहंस ! यही तो यथार्थ उपलब्धि है—भक्त यही चाहता है। महाकवि सूर ने इस आध्यात्मिक उपलब्धि का अपने ही लिये नहीं प्रत्येक भक्त और प्रत्येक काव्य-प्रेमी के लिए अपनी दिव्यवाणी से सिद्ध कर दिया।

और जब कृष्ण ब्रज से मथुरा चले गये, काव्य के लिए सूर में वियोग धुंगार का पल प्रस्तुत हुआ पर भक्त की जीवन उपलब्धि में जीवामृत मरजीवा की यथार्थ तपस्या प्रारंभ हुई अब तक तो सहज भाव ही में कृष्ण प्राप्त हुए थे अब बुद्धि को भी कृष्ण के समक्ष झुक जाना होगा अथवा जीवामृत होते हुए भी आत्मिक लाभ परिपूर्ण नहीं हो सकया बुद्धि मटकती रह जायगी।

ऊधी मन न भये दस बीस

एक हुती सा गयो स्याम सग को अवराधे ईस

मन तो बसा गया रम गया, कृष्ण के साथ गया, किन्तु यह प्रतीक्षा कौन कर रहा है ? "भगियाँ हरि दर्शन की मूर्ती"

यह मुख इन बाँधों को कैसे कहाँ से रह गयी ? उद्धव और मधुप के रूप में ज्ञानबाव के बहं को लेकर माना सुरदास ने अपने आध्यात्मिक अनुमति के मार्ग में अपनी बुद्धि को और गोपियों की बुद्धि को ही गोपियों के सामने बेज दिया । तब जिन गोपियों को हमने पहले कभी मुँह नहीं देखा उन्हें बाँधी का अमस्कार उद्धारित करते देखते हैं—बाँधी के बितने भी प्रयोग हो सकते हैं—और जो वेद से प्रमाणित है उस सब में उसे बिभोग ने गोपियों को दस कर दिया है—बुद्धिबल में चीन ने बताया है कि —

‘मन्त्रा नाना प्रकारा स्तूर दृष्टा ये मन्त्रार्थमिति ’ । और मन्त्र के इन नाना रूपों को धारण करने से विनाया है —

स्तुति प्रससा निन्दा च ससय परिवेचना ।

स्मृदाश्रमि करयता याजा प्रदन प्रीप प्रयत्निका ॥

नियोयश्चानुयोयश्च श्लाघा बिलपित च यत् ।

आधिक्यासाय सलाप अवित्रास्थानयेव च ॥

आहुनम्या ममस्कार प्रतिरागस्तथैव च ।

सकल्पश्च प्रसापश्च प्रतिवाक्य सवैव च ॥

प्रतिबोधोपदेशो च प्रमादापह्नवो च ह ।

उपप्रपश्च च प्राक्त सङ्करो मद्यश्च चिन्त्य ॥

आकोटी मिष्टवद्वैव सोप शापस्तथैव च ।

उपसर्गो निपातरश्च नाम आख्यातमित्यपि ॥३६॥

३७ के लगभग मन्त्र अथवा बाँधी के प्रकार वहाँ में बताये गये हैं इन सबका उपयोग इष्ट देव के रूप में होता है । इष्ट उपलब्धि के उपरांत बेहोस्त समस्त बाँधी प्रकारों में गोपियों को भ्रमर गीत उद्धारित हो उठता है । ऐसा वाक् वैराग्य जो काव्य रसामृत से परिप्लुत है अन्यत्र सबैसा दुर्लभ है । बुद्धि के पास बाँधी के जितने समझ रूप हो सकते हैं सभी में से गोपियों ने अपने साकार रूप की उपलब्धि को पुष्ट कर दिया अतः बुद्धि परास्त होकर मुँह गयी और यही हमें उपा कृष्णार्थ में कृष्ण-वैद्य दर्शन देतो है सूर को आत्मिक उपलब्धि का यह दूसरा पक्ष भी इस प्रकार पूर्ण हो गया । इसमें बिभोग धृंगार का अमृत-

पूर्व परिपाक स्वयमेव हो गया । भागवत की वस्तु के आश्रय से लीलाओं का साक्षात्कार करते हुए सूरसागर में कवि ने अपनी ही आध्यात्मिक यात्रा का रस से तरंगित विवरण प्रस्तुत कर दिया है, जिसके साथ-साथ पाठक भी तादात्म्य अनुभव करता पाता है । ऐसा कवि काव्याकाश का सूर्य कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

व्रजभाषा साहित्य में सूर

वा हम इस बात पर सहमत हैं कि वाक्य रसात्मक काव्य' पश्चिम के आश्रयक भी इससे आगे नहीं जा सके । उन्होंने कल्पना को कुछ अधिक माम दिया है किन्तु इमोशन या भाव को वे भी अस्वीकार नहीं कर सके । भाव और इमोशन दोनों से ऊँचा और परिभाषित है 'रस' । रस के उपकरणों में भाव-पक्ष और कला पक्ष दोनों ही आते हैं । सौभाग्य से व्रजभाषा काव्य के दोनों ही अङ्ग पुष्ट ह । हाँ तो हिन्दी-काव्य-गगन के सूर्य सूरदासजी के सम्बन्ध में कुछ कहिये ।

स०—सूर का काव्य जैसे तो सागर ह किन्तु व्रजभाषा के कोमल हार्द के अनुकूल उन्होंने तीन ही रसों को विशेष महत्व दिया है—वात्सल्य भ्रूंगार तथा शान्त । वात्सल्य में तो दुनिया का कोई कवि उनकी छाह भी नहीं छू सका है । लीजिए उसी से श्रीगणेश करें । जैसे-जैसे सूर के बाल-कृष्ण बढ़ते गये हैं वैसे-वैसे ही उनकी अबन्धा का सूर ने वर्णन किया है, मानो आजकल के कुछ मनोवैज्ञानिक की भाँति उन्होंने बालक के उन्नति क्रम की दैनिकी रक्खी हो । उनके तोतसे बोलों पर मगोदा मैया न्याँछा-बर हो जाती है और मुस धूमती है ।

'बोछत श्याम तोठरी बतियौ हँसि-हँसि दँतियाँ दू में ।

सूरदास बारी छवि ऊपर जननि लाल मुस धूमें ।

रस शास्त्र की दृष्टि से भी इन दो पक्षियों में सभी उपादेय सामग्री आ गयी है ।

वा०—दो पक्षियों में क्या, एक-एक वाक्य में बहु रस भरा ह जो उफना पड़ता ह । भगवान कृष्ण की बाल-चेष्टाओं में सूर ने नन्द-यसोदा के आमोद प्रमोद का भी जो चित्र उपस्थित किया है उसे मुनिये —

कबहुँक धीरि घुटखनि लपकत गिरत उठत पुनि धावैरी
 इतते मन्द मुलाइ लत हैं उतते जननि मुखावैरी
 दम्पति होइ करत आपस में क्याम सिलीना कीम्वौरी
 अब आप कोई ऐसा पद सुनाइये जिसमें दो बार बाल
 क्रीड़ाओं का एक साथ वर्णन हो बाल-स्वभाव का पूरा चित्र
 उत्तर आये और जिसे वास्तव में स्वभावोक्ति कह सकें ।

स०—लीजिये इस पद में आलम्बन का ही नहीं, उद्दीननों
 और आश्रय के सम्भारियों का भी पूरा पूरा वर्णन है —

हरि अपने आगे कछ गावत

तनक तनक चरनन सों नाचत मनही मनहि रिझावत

बाह उचाइ, काजरी-धौरी गैयन टेरि बुलावत

कबहुँक बाधा नन्द पुकारत कबहुँक घर में आवत

माखन तनक आपने कर मैं तनक धवन में नावत

कबहुँक चितैं प्रतिबिम्ब लम्भ में लीनी लिए खवावत

सूरस्याम के बाल चरित ये नित देखत मन भावत

कहिये, पसन्द आया ?

बा०—यह सुन्दर पद सुनाया । सूर का काव्य तो सागर ही
 है । उसमें एक से एक बहिया रत्न मरे पड़े हैं । मुझे तो दो
 बातें बड़ी मनोवैज्ञानिक लगीं । अपन आगे कछ गावत बालक
 जो एकान्त में गाता है वह कहन से नहीं गाता है और सारा
 आनन्द तो 'दुरि देखत' में आ गया है । यथादा मैया जानती थीं
 कि यदि सामन आ जायेंगी तो बालक धरमा जायगा और फिर
 यह आनन्द न मिलेगा । लम्भ के पीछे मुस्कराती यथादा की
 भाँकी सामने आ जाती है ।

स०—जहाँ तक वास्तव्य का सम्बन्ध है स्वाभाविकता और
 मनोवैज्ञानिकता में तो कोई भी बखि मूर की समता नहीं कर सका
 है । आपने यह पद तो सुना ही होगा —

मैया मोहि दाऊ बहृत पिजायी

मोसा केह बाल की लीनों ताहि जगुमति कब जायी

कहा कहीं दहि गिस के मार खसन हो नहि आत ।

पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरी बात
 मोरे नन्व जसोदा गारी, तुम कत स्याम सरीर
 घुटकी है व हँसत ग्वाल सब सिल देस बलवीर
 तू मोही का मारन सीखी, दाउहि कयहुँ न सीमै
 मोहन की मुख रिस समेत लखि जसुमति पुनि-पुनि रीझ
 सुनौ कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत
 सूरस्याम भो गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥

कृष्ण की खीझ माँ की रीझ स्त्री—सुलभ सौगन्ध का आश्वासन और घरेलू आलावरण कैसा अनुपम बन पड़ा है ? इसमें माँ के हृदय के कपाट खुले हुए दिखायी देते हैं ।

वा०—माता यशोदा की मनोवृत्तियों के चित्रण के विषय में कुछ न पूछिये । इसमें सूर पराकाष्ठा पर पहुँच गये हैं । माता की स्वाभाविक आशका और चिन्ता के अनेकों स्थल मिलते हैं । देखिये कृष्ण मथुरा में अपने माता-पिता के पास पहुँच गये हैं । फिर भो यशोदा की चिन्ता दूर नहीं होती । असली माँ को भी सिखावन दिये बिना उमको सन्तोष नहीं होता —

सदेसी देवकी सौं कहियो ।

हौं तौ घाय तिहारे सुत की मया करता ही रहियो ॥

जवपि टेब तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि भावै ।

। नित उठि मेरे लाल झड़ते ए माखन रोनी भाव ॥

यों ठो ओ बात सूर न कृष्ण के सौन्दर्य के बारे में कही बही बात सूर के वात्सल्य वर्णन के सौन्दर्य के बारे में कही जा सकती है ।

बित देखौ मन मयी तितहि कौ,

भरे भरे कौ जोर रो ।

भरे भर का जोर क्या छोड़े और क्या ले जाय ? हाँ अब कुछ उनके शृङ्गार वर्णन के सम्बन्ध में कहिये ।

स०—शृङ्गार का भूर में सहज प्रेरणा अन्य कारण हमें मिलता है । राधा से कृष्ण का अमायास ही साक्षात्कार हो जाता है उस देखकर वे पूछ बैठते हैं —

ब्रूकल त्याम कौम स गौरी ।

कहाँ रहति काकी है बटी, देखी नहीं कबहुँ ब्रज सोरी ॥
हम काहूँ को ब्रज तन आवत, ब्रैरत रहत आपनी पीरी ।
समयन सुनत रहत नैद छोटा करत रहत मासन बधि चोरी ॥
तुम्हरी कहा चोनि हम संहें खेल्हु चली संग मिलि जोरी ।
सूरवास प्रभु रसिक सिरामनि बातन भुरह राधिका मोरी ॥

इसमें न राधा के रूप का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है न मुक्क-मुक्कियों की मुका छिपी है । एक सीधा-सच्चा परिचय है । सहज ही कृष्ण ने प्रश्न किया राधिका से । रति का बीज इस प्रश्नोत्तर में किस प्रकार भीतर ही भीतर अकुरित और पल्लवित हुआ है ।

धा०—यथार्थ में शृङ्गार रस का यह सौम्य विकास है । मिलन में तो नाटकीयता है पर उसके उपरान्त असहि-गाम्भीर्य भर गया है । सूर की यही तो विशेषता है जो बरबस हृदय को पकड़ लेती है । असहि-गाम्भीर्य क साथ उसकी सहस्रों का सा आञ्चल्य भी है समस्त पद विनोद के भाव से जगमगा रहा है सहज प्रेरणाजन्य भाव क साथ रसिकता का मेल भी सूर ही बठा सकते हैं जो 'भुरह' शब्द में व्यक्त हो जाता है, मारी शब्द भी उतना ही सार्थक है । प्रेम की पहरी गाँठ यहाँ रुगायी गयी है, फिर भी उस ही खेलने की यहाँ प्रेरणा है तभी इस प्रेम की जड़ ऐसी पक्की जमी है कि वह भुलाये भी नहीं भूला जाता । 'छरिकाई की प्रेम कही अलि बस छुटे ।

स०—इस प्रकार प्रेम को वास्तव्य क घरे से निजाल कर राधा के महारे रति का रूप सूर ने दे दिया और अब तो प्रेम की पाटी में सब कुछ जान बानों ने स्वयं ही प्राप्त कर लिया । कम्ब का वृक्ष समुद्रा पुलिन कृष्ण और उमके हाथ में मुरली—इम मुरली ने तो बड़ा गजब बाया है । सयोग-शृङ्गार के उद्दीपन में मुरली ध्वनि क्या है ? कृष्ण को स्वयं वृक्ष बना देने वाली है । गोपियी उमक अधर से लगी हुई मुरली से मोतिमा डाल करन रुगती है । 'मुरली सऊ गोपालहि भावति' । रूप-सीन्दर, दधि-दान मुरली-माधुरी, रास गुरु, मान और हाप्पी सभी सयोग-गद के विकास की विविध अवस्थायें हैं एक से एक अनोपे पद हैं किन्

किन का उत्सर्जन किया थाय ?

बा०—सधमुच ऐसा ही है । सूर के प्रेम की विशेषता यह रही है कि वह उनके जीवन-व्यापार से अनुस्मृत रहा । विमोग-पक्ष में भी सूर अनुपम ही हैं ।

स०—वियोग-शृङ्गार के वर्णन में तो इस कवि ने वियोग-शृङ्गार से भी अधिक विलक्षणता दिखायी है । उसमें विरह का तो पूर्ण-परिपाक है ही गोपियों का शोचये-दिल न जाने कितनी ठसों से धूर-धूर हो चुका है उसे एक भारी चोट लग गयी जब वर्षा आ गयी । ओह ! वर्षा वियोगिनियों के लिए नहीं तभी तो अत्यन्त दूरे हृदय से अपने अवकट हृदयोच्छ्वास छोड़ती हुई गोपी कहती है —

बर ए बदराह वरसन आये ।

अपनी अवधि जानि मँदनन्दन

गरजि गगन धन छाये ।

‘वर’ शब्द को देखिये । यह गोपियों की दानदशा पर बरबस हलाई से आता है । वर्षा में तो सभी परवेशी आ जाते हैं तो क्या बादल बदराह बाहर आ गये और कृष्ण नहीं आये । शोक और वेदना की कहीं सीमा है ?

सुनियत है सुरलोक बसत सति सेवक सदा पराये
ऐसे होते हुए भी ये बादल तो आ गये पर स्ववश होते हुए भी ‘मधुवन बसत’ कृष्ण नहीं आये । इन्होंने आकर ‘तुण किए हरित’ हरिप बेसी मिलि दाधुर मुतक जियाए । — वियोगिनियों के लिये दूसरों का संयोग—मुक्त विप से भी विपम होता है ।

बा०—एक विरह का पद मुझे भी स्मरण हो आया —

विनु गोपाल बैरिन भई कुँज

सब ये सता लगति अति सीतल

अब भई विपम ज्वाल की पूँज

x x x

पवन पानि धमसार संजीवन,

दधि मुत किरन मान भई भुँज

x x x

सूरदास प्रभु को मग जोबत
अँलियाँ भई बरन जिमि गुजें

जो उद्दीपन संयोग-मुसद होते हैं वही निरह में दुख होतें हैं। इस पद में माधुर्य गुण के साथ उद्दीपनों की विपरीत गति सूरदासजी न चित्रित कर दो हैं और रोतो आँखों के लिए गुँजा अर्थात् धूम्रपान से अधिक फबती हुई उपमा और कौन सो हो सकती है।

स०—ये तो निरह की पीड़ा के दिव्यार्क पद हैं। सूर ने तो वियोग शृंगार के बगन में सगुण पक्ष का समर्थन भी काव्यमय रूप से करा दिया है। भ्रमरगीत की रचना इसीलिए हुई है। भ्रमरगीत भी निरह-साहित्य की अनूठी वस्तु है।

बा०—भ्रमरगीत का अच्छा स्वरूप दिखाया। इसमें दोषियों की सजीवता और उनके हास्य-व्यंग्य अनूठे हैं—हरि सों भसौ सो पति सीता कौ—दूत हाथ उन लिखि न पठायो गूढ़ ज्ञान गीता कौ। ऊँको को लक्ष्य करके विचारे भौरे को ऐसी कराटी बाट दी गयी है कि उसको छठी का दूध याव जा गया होगा। 'छु रे मधुकर मधुमतवारे कहा बरौ हौं निरगुन सँकें जीवहु कान्हु हमारे। इस फटकार में भी कृष्ण के व्यक्तित्व के प्रति मन-यता का भाव व्यक्त है। प्रेम में व्यक्तित्व का मान ही तो उसे मोम और बासना से जैसा उठा देता है —

ऊँको। तुम बति बतुर सुजान
जे पहिले रंग रंगी स्याम रंग
तिन्हूँ न चढ़े रंग मान
है सोचन जो बिरद किए
छुति गावत एक समान
मेद बकोर बिधो तिनहूँ में
विधु प्रीतम, रिपु मान

स०—यथार्थ है। चंद्र बकोर की सी अनन्यता का प्रेम ही भक्ति में परिणत हो जाता है।

या०—जैसे ता उनका शृंगार और बात्मस्य भी दाग्न का भी अङ्ग रहा है पर व अपनी विलय की दीनता और शरणागति

भावना में तुलसी से पीछे न थे । 'सूरदास द्वारे ठाढ़ी भाँवरौ भिक्षारी' में उनका भाव उच्च स्वर में मुखरित हो उठा है । उनकी भाषा की सहज सुषमा और मसकारिकता ने उनके भावों को बल प्रदान कर उनको ब्रजभाषा काव्य में शार्प स्थान प्रदान किया है, किन्तु इस सौर मण्डल की परिधि में घूमने वाले अष्ट-छाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी इस भाषा की श्रीपुष्टि की है । वात्सल्य, शृंगार और दान्त में ब्रजभाषा की भाविक क्षमता देखकर अवध और अवधी के अनन्य भक्त तुलसी दासजी ने भी अपनी सीतावली और विनयपत्रिका में ब्रजभाषा को अपनाया है । आधू बहू ह जो सर पर पड़ कर बोले ।

सूर काव्य की जन-वाणी

सूरदास हिन्दी के महाकवि हैं और यह पद यों ही नहीं मिला गया । 'सूर-सूर तुलसी बाणी' आदि पर बहुत विवाद हुआ है, और भाँति भाँति से सूर और तुलसी के काव्य को तुल्यगम करने की चेष्टा की गयी है । प्राचीन आलोचकों और समीक्षकों ने तो प्रायः ऐसा ही मत प्रकट किया है कि 'तत्त्व तत्त्व सूरान्वही । हमें यही इन सब विवादों से अमिप्राय नहीं । हम तो जिस बात की ओर आज ध्यान आकषिप्त करना चाहते हैं वह यह है कि सूर काव्य की वाणी जन-वाणी है ।

काव्य के अर्थ को ग्रहण करने के लिए प्रत्येक काव्य का विश्लेषण करके हमें उस काव्य के मूल तत्त्वों पर विचार करना होता है । सूर के काव्य के मुख्य तत्त्व ये हैं —

१ काव्य के अवलम्ब कृष्ण हैं । कृष्ण-कथा सूर के काव्य का आधार है ।

२ कृष्ण कथा को सूर द्वारा दिया गया प्रयोजन ।

३ उस प्रयोजन को प्रकट करने की शैली के उपकरण ।

इन तीनों तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण और विचारोत्प्रेरक प्रश्न तो यह है कि सूरदास के लिए कृष्ण-कथा महत्वपूर्ण है अथवा उसको दिया हुआ प्रयोजन । सूरदास वत्सभाचार्यजी से पूर्व भी काव्य रचना करते थे । पर कृष्ण को अपने काव्य का विषय उन्होंने वत्सभाचार्यजी से परामर्श से ही बताया । तो क्या वह कृष्ण कथा के महत्व के कारण ? कृष्ण-कथा से वे अपरिचित तो नहीं रहे होंगे, न राम कथा से ही । बूढ़े पर इसका प्रमाण मिला सबते है कि ये दोनों कृत उस समय अत्यन्त प्रचलित थे । फिर यह भी स्पष्ट है कि सूरदास कोई सूत्र-बद्ध कथा नहीं कह रहे । इसी के कारण

तो वे प्रथम काव्यकारों की पंक्ति में नहीं आते । अतः कृष्ण-कथा से अधिक मूर के लिए प्रयोजन का महत्त्व था । उस प्रयोजन के लिए पहला माध्यम कृष्ण-कथा थी और दूसरा दोसी—काव्य दोसी ।

तो वह अभिप्राय क्या था ? वल्ग्व-सम्प्रदाय का प्रचार या स्वरूप निर्माण या क्या ? आज तक संसार का कोई भी महान् कवि और उसका काव्य 'सम्प्रदाय' जैसी सीमाओं से घिर कर नहीं चल सका है । मूर के रस के अस्वाद के समय कहीं भी कविता भी साम्प्रदायिकता के आभास से भी किम्किसाहट नहीं उत्पन्न होती । मूर की वाणी में सबको अपना ही हृदय-स्पर्शन मिलता है । यही कारण है कि मूर ने अपनी वाणी के अभिप्राय के लिए कृष्ण-कथा की एक विशेषव्याख्या प्रस्तुत कर दी है ।

मूर ने कृष्ण-कथा में भी अपने प्रयोजन की अनुवृत्ति पायी अवश्य । यही कारण है कि वे कृष्ण के सत्ता वन गये । कृष्ण-कथा की ही यह बिदायता है कि इसका नायक समाज के बहुत साधारण निम्न स्तर से अपना कार्यारम्भ करता है । इसी लिए मूर की रचना में जन-जन का साम्य उद्योपित हो रहा है । इसके प्रमाण के लिए मूर की वाणी से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । सबसे शक्ति-पूर्ण तो वह पद है जिसमें मूर के ग्वाल कृष्ण के समस्त ही वृष्टता-पूषक कहते हैं —

लोक में जो काको गुसदियाँ

अति अधिकार अर्थात् आते अधिक तुम्हारे हैं कछु गीयाँ ।

'तुम्हारे गायें कछु अधिक हैं सम्पत्ति अधिक है उच्च वर्ग के हैं' इसीलिए अधिकार दिखाते हैं । मूरदास सम्पत्ति के इस विषम वटवारे के महत्त्व का पारस्परिक सामाजिक जीवन में इस पद के द्वारा एक दम अस्वीकार कर देते हैं ।

किन्तु बात सम्पत्ति के रीज की ही नहीं । निम्न शक्तियों के गर्व की भी हो सकती है । उसमें भी भेद सं विकार होता है । तभी मूरदास कृष्ण को सलकार कर कहते हैं —

आजु ही एक-एक कर सरिहा ।

कैं ही ही कैं तुम ही माधव अपन भरोसे रहिहों ।

कृष्ण से इस लड़ाई का और अपने भरोसे का क्या रहस्य है? आध्यात्मिक रहस्य की बात रहने दीजिये । इन पंक्तियों को पढ़ते ही पाठक में सबसे पहले भगवान की समानता करने का ही नहीं, उनका सामना करने का भाव उदय हो उठता है । यही कारण है कि सूर की वाणी बाल-कृष्ण के साथ और गोपी-कृष्ण के साथ द्रुब बहकी है । प्रेम और गुण मोह तथा साम्य के अधिकार के अतिशक्ति और कोई अधिकार सूर और उनकी गोपियाँ मानने को तैयार नहीं । वधि-सीला में अथवा दान-सीला में कृष्ण के दान मांगते ही वे कृष्ण को चेलेंज कर उठती हैं । राजनीतिक भाषा में ही कि यह आप किस अधिकार से कर रहे हैं ?

और कृष्ण जब इस साम्य भूमि को छोड़कर मथुरा में कस को मार कर राजा बन बैठते हैं तो सूर की वाणी में गहन वेदना, विषाद और व्यंग आ जाता है । वह समस्त व्यंग पूर्वोपत्तियों और सामन्तवादियों के लिए उभरा हुआ व्यंग हो गया है, और गोपियाँ कृष्ण को अत्यन्त स्नेह करती हुई भी इसी कारण थोड़ा अन्तर रहते हुए भी मथुरा नहीं गयीं, जिस पर साहित्य के विचारकों ने कितने ही अपवाद लगाये थे और सूर का उपहास किया था । पर गापियाँ तो उखब से भी यही कहती हैं —

गौलियाँ हरिदर्शन की भूलीं

बारब बह भुल फरि दिसावहु बुहि पय पिअत पतूखी ।

इसमें कवि ने गापियों के मन में जिस कृष्ण के दर्शन की आकांक्षा प्रकट की है वह पक्ष के दोने में दुह कर दूध पीने वाला कृष्ण है ठेठ ग्रामीण और उन गोप-नारों से अभिन्न मथुरा का वह कृष्ण नहीं जो सोने की चामी गंगा जल पानी का उपयोग करता है सूर के साम्य भाव का आदर्श इस प्रकार महाराज कृष्ण को सामान्य जन के रूप में दर्शन करना चाहता है । गोपियों के चिरह का सारा मम यही है । उन्हें स्पष्ट विदित हो गया कि उन का कृष्ण उनके हाथ से चला गया क्योंकि जिस निर्गुण का उपदेश देने उठकनी आये हैं वह निर्गुण तो बहाना है मर्याद में तो इस संदिश में तो यह व्यंग है कि तुम जिस गोपाल कृष्ण का चाहती हो वह अब तुम से नहीं मिलने का ।

यही नहीं कि कृष्ण को गाल बालों के साथ सीला करते

दिखाते समय ही सूरदास ने इस साधारण जन की भाव भूमि से ही एक साम्य भाव उबघोपित किया हो। वरन् वे तो दार्शनिक दृष्टि से भी उस विचार प्रणाली को नहीं ग्रहण करना चाहते जो इस नाम रूपात्मक जगत को अघहेछना योग्य समझती है और इससे भिन्न किसी निर्गुण सत्ता का प्रदर्शन करना चाहती है। सूरदास की भक्ति का आदर्श गोपी-वासों की भक्ति है, किसी सत्त-महन्त की नहीं इसीलिए वे कहते हैं —

अविगत गति बध्न कहत न आवै



मिरासम्ब मन बन्धत आवै

ताते सूर सगुण पद गावै ।

इसीलिए वे पूछते हैं कि निगुण कौन वेष को वासी ? ऐसे दार्शनिक विचार-गमित पदों में विप्लेपण करने पर सूर के किसी साम्प्रदायिक रंग का भी दर्शन हो सकता है। किन्तु कवि कवि है। मानवीय युद्ध असाम्प्रदायिक दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर किसी ऐसे दर्शन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं जो किसी भी प्रकार का भेद उत्पन्न करे। इसीलिए उन्होंने जगत को सत्य माना और कृष्ण को साकार रूप में हृदयमम किया। यही कारण है कि सूर की बाणी जन-जन की बाणी हो जाती है। इसी के साथ सूर की भाषा का भी स्वरूप जन-भाषी का स्वरूप है। ब्रज भाषा में होते हुए भी और आज इतनी सताश्रियों के बीच जाने पर भी सूर की बाणी का प्रसाद गुण आज भी बेषकों तक के हृदय और मस्तिष्क के लिए सम्प्रेषणीयता रखता है। 'मैया मेरी कर्षहि बड़गी चाटी' जैसे अनेकों पद सूरदास में हैं जिनको सूरदास के समय के लोग आसानी से समझ ही लेते होंगे आज भी उन्हें सहज ही समझ लिया जा सकता है।

सूर के साम्प्रदायिक और व्यापकारिक स्वरूप को मकाव को उलट कर देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उस युग में भी सूर ने किस प्रकार जन-भाषी को अभिव्यक्त किया।

कृष्ण से इस सझाई का धीर अपने भरोसे का क्या रहस्य है? आध्यात्मिक रहस्य की बात रहने दीजिये । इन पक्षियों को पकड़े ही पाठक में सबसे पहले भगवान की समानता करने का ही नहीं, उनका सामना करने का भाव उदय हो उठता है । यही कारण है कि सूर की वाणी बाल-कृष्ण के साथ और गोपी-कृष्ण के साथ कुछ चहुँकी है । प्रेम और गुण मोह तथा साम्य के अधिकार के अतिशक्ति और कोई अधिकार सूर और उनकी गोपियाँ मानने को तैयार नहीं । दधि-लीला में अथवा दान लीला में कृष्ण के दान मांगते ही वे कृष्ण को बेसंज कर उठती हैं । राजनीतिक भाषा में ही कि यह आप किस अधिकार से कर रहे हैं ?

धीर कृष्ण जब इस साम्य भूमि को छोड़कर मथुरा में कस को मार कर राजा बन बैठते हैं तो सूर की वाणी में गहन बेदना, बिपाद और व्यग आ जाता है । वह समस्त व्यग पृथ्वीपतियों और सामन्तवादियों के लिए उभरा हुआ व्यग हो गया है और गोपियाँ कृष्ण को अत्यन्त स्नेह करती हुई भी इसी कारण थोड़ा अन्तर रहते हुए भी मथुरा नहीं गयीं, जिस पर साहित्य के विचारकों ने बितने ही अपवाद लगाये थे और सूर का उपहास किया था । पर गोपियाँ तो उदब से भी यही कहती हैं —

भोजियाँ हरिवर्षन की भूखीं

भारक वह मुख फेरि दिलावहु बुढ़ि पय पिबत पतूरी ।

इसमें ब्रज ने गोपियों के मन में जिस कृष्ण के दर्शन की आकांक्षा प्रकट की है वह पक्ष के दोने में दुह कर दूध पीन बाला कृष्ण है ठठ ग्रामीण और उन गोप-बालों से अभिन्न मथुरा का वह कृष्ण नहीं जो 'सोने की थाली गंगा जल पानी' का उपयोग करता है और के साम्य भाव का आदर्श इस प्रकार महाराज कृष्ण का सामान्य जन के रूप में वर्णन करना चाहता है । गोपियों के बिरह का सारा मम यही है । उन्हें स्पष्ट बिंदित हो गया कि उन का कृष्ण उनसे हाथ से चला गया क्योंकि जिस निर्गुण का उपदेश देने उदबजी आये हैं वह निर्गुण तो बहाना है यथार्थ में तो इस संदिग्ध में तो यह व्यंग है कि तुम जिस गोपाल कृष्ण का चाहती हो वह अब तुम से नहीं मिलने पा ।

यही नहीं कि कृष्ण का गाल बाला के साथ लीला करते

(१७१)

जाते हैं पर भावना मध्यम अनुष्ठान अवश्य रहते हैं जो विधियाँ
कर्मकाण्ड से साधना भक्ति के लिए की जाती हैं वहाँ मानसिक
भक्ति में भावना द्वारा नम्यता की जाना है किन्तु प्रेमा भक्ति में
ऐसे किसी ना अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहता एक मात्र
प्रेम की ही मान्यता हो जाना है ।

प्रम प्रम से होइ प्रेम से पारहि पदये।
प्रेम बँध्यो सँभार प्रम परमारय रहिये ।

एक निश्चय प्रम को जावन मुक्ति रमाल ।
साँची निश्चय प्रम को जहि रँ मिल गोपाल ।

इस प्रकार इस प्रेम भक्ति में साध्य और साधन में अनेक
हो जाता है यह महत्तम स्थिति और किसी भक्ति में प्राप्त नहीं
हो पाती । मूर ने इस प्रेमा भक्ति का मूरमागर के द्वारा प्रस्तुत
किया प्रम की और प्रमा भक्ति की दुहाई कबीर न भा दो —

बहै कबीर जन भये खाला से
प्रेम भगति जिन जाना ।

किन्तु कबीर का यह प्रेम निराधार का प्रेम था । जायसी ने
भी प्रेम को पीर का व्यवस्था की पर इहान ना सामारिक प्रेम
से जो बुराया और आध्यात्मिक प्रम को बाध नहीं । मूरबामजी
न प्रेम के न तो सामारिक रूप की ही अप्रतिष्ठा की न आध्या
त्मिक की ही उन्होंने वस्तुन भक्ति का इस स्थिति तक
पहुँचाया क्योंकि इन्होंने श्रृंगार और भक्ति को अभिन्न कर दिया ।
इससे उनके अवलम्ब थे यह इष्ट स्वयं ब्रह्म थे ब्रह्म के
अवतार नहीं थे और ये साधारण शरीर इष्ट ही ब्रह्म थे महत्तम
साध्य उदब से गापियाँ पूछती हैं —

हो तुम कहत कौन की बातें ?
मुन ऊँची हम ममुझ नही फिर बूझत हैं तात

यही तो वे गापियाँ यह भी नहीं समझती कि —
को नृप बना ?
कत किन मारया ?
को बमुदेब मुन आहि ?

सूरदास और शृंगार

यह सर्वमान्य है कि सूरदास भक्त हैं। उनकी भक्ति भावना ने ही काव्यमय शरीर धारण किया, और सूरदास जैसी अनुठी कृति हिन्दी साहित्य को ही नहीं विश्व साहित्य का मिल सकी। सूरदास की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस में शृंगार रस का बिंदव परक भावभूमि की भक्ति की उच्चतम भव्यता से अभिमर्शित कर दिया। शृंगार रस का रतिभाव बिंदव भर के साहित्यिक वा प्राण है। भारत में कृष्ण सम्प्रदाय के अतिरिक्त बिंदव में अन्यत्र कहीं इस को इस प्रकार सौम्य और भव्य (सदकाइमेत) करने की ऐसा चेष्टा नहीं की गयी। अम्यप्रप्रेम में दिव्यता राने की चेष्टा की गयी है अम्यि धर्म के दम बिकार का पवित्रता और पावनता शरीरी धम के स्वरूप में ही दन के प्रयत्न में हुए हैं, पर उसे आध्यात्मिक स्तर पर कही भी प्रस्तुत नहीं किया जा सका यह सूर ने किया।

भक्ति रम दास्य में मायागणन उत्तम भक्ति तो प्रकार की मानी गयी है। मायना भक्ति भावना भक्ति, तथा प्रमा भक्ति साधना भक्ति के दो भेद होते हैं। यही और रागानुगा। वैष्णव धर्म के प्रभाव से भक्ति में दमनी प्रयत्ना प्राप्त की, कि जा भक्ति भारत मुनि ने समय में प्राप्त रम के अन्तर्गत समाविष्ट की जिस आधारों पर आधार में सम्मिलित रति देखादिविषया ध्यमिधारा ब्यागिजत भाव। (माध्य प्रकाश) यह कर कर देखादि विषय यत्र रति यह कर मात्र भाव माना यही साधना ही दानादा में रम पा स्थान पा मानी और उस पर धनाने दास्य रने गये। दमी भक्ति में हमें मायना से भावना और भावनास प्रमा की उत्पत्ति सिद्धित होता है। मायना भक्ति में भोनिष अनुष्ठानों का प्राधान्य रहता है भावना में भोनिष अनुष्ठान तो गूँथ हा

(१७१)

जाते हैं पर भावना सम्पत्ती अनुष्ठान अवश्य रहते हैं, जो विधियाँ कर्मकाण्ड से साधना भक्ति के लिए की जाती हैं वे ही मानसिक भक्ति में भावना द्वारा सम्पन्न की जाती हैं किन्तु प्रेमा भक्ति में ऐसे किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती एक मात्र प्रेम की ही मान्यता हो जाती है।

प्रेम प्रेम से होइ प्रेम ते पारहि पइये।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारय लहिय।

एक निश्चय प्रेम को जीवन मुक्ति रसा।
साथी निश्चय प्रेम को जहि रे मिले गोपाल।

इस प्रकार इस प्रेम भक्ति में साध्य द्वार साधन में अमद हो जाता है यह महत्तम स्थिति और किसी भक्ति में प्राप्त नहीं हो पाती। सूर ने इसा प्रेमा भक्ति का सूरमागर के द्वारा प्रस्तुत किया, प्रेम की और प्रेमा भक्ति की दुहाई कबीर ने भी दी —

कहे कबीर जन भये लाला से
प्रेम भगति जिन जानी।

किन्तु कबीर का यह प्रेम निराधार का प्रेम था। जायसा न भी प्रेम को पीर की व्यवस्था की पर इन्होंने भी सांसारिक प्रेम से जो बुराया और आध्यात्मिक प्रेम की बात कही। सूरदासजी ने प्रेम के न तो सांसारिक रूप की ही अप्रतिष्ठा की न आध्यात्मिक की ही उन्होंने ही बन्तुत भक्ति का इस स्थिति तक पहुँचाया क्योंकि इन्होंने शृंगार और भक्ति को अभिन्न कर दिया। कृष्ण उनके अवलम्ब थे यह कृष्ण स्वयं ब्रह्म थे ब्रह्म के अवतार नहीं थे और य साकार परीर कृष्ण ही ब्रह्म थे महत्तम साध्य, उदय से गोपियाँ पूछती हैं —

हो नुम कहत कौन की बातें ?
नुन ऊषी हय ममभुज नाही फिरि बूझत हैं ताते

यहाँ तो वे गोपियाँ यह भी नहीं समझती कि —
का नृप भयो ?
कंस किन मारयो ?
को वसुदेव सुत माहि ?

किन्तु सब से अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानती कि —

को अविनासी अगम अगोचर ?

को त्रिभि वेद अपार ?

वे स्पष्ट कहती हैं कि—

यह इहि गोत्र न समुक्त कोउ कंसी निर्गुण होत
यही निर्गुण को कोई भी नहीं जानता, तभी वे पूछ बैठती हैं,
निर्गुण कौन देस को बासी,

पूछती ही नहीं वे उद्धव से निस्सकोच कहती हैं —

सुनिहै कया कौन निर्गुण की रचिपनि बात बनावत,
क्योंकि सगुन सुमेख प्रगट देखियत तुम वृष की ओट दुरावत,
यह सगुन सुमेख, जिसे गोपियां प्रगट देखती हैं, यद्योदा सुत
मन्दकुमार के अतिरिक्त और कौन है ?

हो यशुवामुत परम मनोहर बीवत है मुख चाहि

नित प्रति जात भेनु बन धारन गोप सखन क संग,

सूर की यह धारणाएँ जो गोपियों के मुख से निकली हैं निर्गुण का निवारण कर देती हैं। ब्रह्म और यद्योदा सुत मन्दकुमार कृष्ण एक हो जाते हैं और राधाकृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का प्रेम भक्ति से झोतप्रोत रहता हुआ, भी शृंगार रस की रति को पर्याप्त हो जाता है। इस प्रकार भक्ति का शृंगार रस से कोई निम्न स्वरूप शय नहीं रहता। यही कारण है कि सूर के शृंगार रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक हुआ है।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है। सूरदासजी ने इस रति को भाव की कोटि में जान से बचाने के लिए अपनी रचना में दाम्पत्य रति, स्त्री-पुरुष की रति—का ही प्रतिपादन किया है। उसी का विकास प्रस्तुत किया है।

इस रति के मायक कृष्ण हैं, और लायिक राधा तथा गोपियाँ, किन्तु क्या गोपियाँ वस्तुतः मायिकाएँ हैं ? राधा और गोपियों की कहानी असम-अलग है। गोपियों ने कृष्ण को उनके जन्म समय से ही अपने बीच में पाया है। उनका प्रेम, उनमें वास्तव्य से शृंगार की

(१७३)

भोर अपसर हुआ है। दान सीला प्रकरण में गोपियाँ कहती हैं —
मन्द सुवन यह बात कहावत

भापुन जोवनदान लेत है तापर आइ सोइ सखन सिखावत ।
मात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आशय
जिन गोपियाँ म हैं वे सब विवाहिता हैं पर मारी हैं। वे कृष्ण की
मर्त्सना भी इसी समय पर इन शब्दों में करती हैं—
‘सखा लिये तुम बरत पुनि पुनि बन भीतर सब तुम पर मारि
‘पराई मत गोपियों में परकीयात्व के साथ कृष्ण पातिशरय
है, कृष्ण गोपियों को बताते हैं —

तुम पति किया मोहि को मन दे म ही अन्तर्यामी
यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियाँ कृष्ण से उन्न
में बड़ी हैं। वे कृष्ण का ध्यान उनकी उन्न की ओर भी आकर्षित
करती हैं —

कहा भये अति डीठ कन्हाई,

ऐसी बात कहत सकुचत नहि कहौ अपनी लाज गवाई,
बहुत हुए दर्साई बरस के बात कहत ही बने बनाई ।
कृष्ण नायक गोपी समूह से इस प्रकार दान मांग रहे हैं ।
नायक एक, और नायिकाएँ सख्या में इतनी ? यह स्थिति शृंगार
रस के लिए कुछ अटपटी है। यद्यपि सूरदास ने कृष्ण की असौ
किकता का किञ्चित सहारा लेकर गोपी-कृष्ण की इस रति को भी
पूज्य फलित सिद्ध किया है पहले मानसिक क्षेत्र में,
‘अन्तर्यामी जानि लई

मन में मिले सबमि सुख दीने तब तनु की कुछ सुरति भई,
भोर तब शरीर के क्षेत्र में। इस समस्त परिपाक से भी शृंगार
रस के रतिभाव में आवश्यक यथार्थ समस्कार उत्पन्न नहीं होता
रति सीपठन बिखर जाता है किन्तु गोपियों के इस प्रेम को सूरदास
यों ही छोड़ नहीं सकते। बीरहरण से जिस रतिभाव का गो
कृष्ण में आरम्भ होता है, समीप शृंगार में वह रासलीला
पराकाष्ठा पर पहुँचता है। दान-सीला में कृष्ण इस शरीर
का उत्सल कर गोपियों के उनके मूल मनोभाव को उद्घोष

किन्तु सब से अधिक कठिनाई तो यह है कि वे नहीं जानती कि —
 को अविनासी अगम अगोचर ?
 को बिधि वेद अपार ?
 वे स्पष्ट कहती हैं कि—

यह इहि गांव न समुद्रत कोउ कैसी निर्गुण होत
 यहाँ निर्गुण को कोई भी नहीं जानता तभी ब पूछ बैठती है,
 निर्गुण कौन देश की वासी

पूछती ही नहीं वे उदब से निस्संकोच कहती हैं —
 सुनिहै कथा कौन निर्गुण की रचिपचि बात बनावत,
 सगुन सुमेरु प्रगट देखियत तुम तुम की ओट दुरावत,
 क्योंकि यह सगुन सुमेरु जिसे गापियाँ प्रगट देखती हैं यशोदा सुत

नन्दकुमार के अतिरिक्त और कौन है ?
 हाँ यशोदासुत परम मनोहर जीवत है मूल बाहि
 नित प्रति जात घेमु बन बारन गोप सखन के संग,
 सूर की यह भारणार्थ जो गापियों के मुख से निकली है
 निर्गुण का निवारण कर देती है । ब्रह्म और यशोदा सुत नन्दकुमार
 कृष्ण एक हा जाते हैं और राधाकृष्ण का और कृष्ण-गोपियों का
 प्रेम भक्ति से घातप्रोत रहता हुआ, भी शृंगार रस की रति को
 पर्याप्त हो जाता है । इस प्रकार भक्ति का शृंगार रस से कोई
 भिन्न स्वरूप घोष नहीं रहता । यही कारण है कि सूर के शृंगार
 रस में रति स्थायी भाव का पूर्ण और अलौकिक परिपाक
 हुआ है ।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति है । मूरदासजी ने इस रति
 को भाव की कोटि में जाने से बचाने के लिए अपनी रचना में
 दाम्पत्य रति, स्त्री-पुरुष की रति—का ही प्रतिपादन किया है ।
 उसी का विकास प्रस्तुत किया है ।

इस रति के मायब कृष्ण हैं और नायिका राधा तथा गोपियाँ,
 किन्तु क्या गोपियाँ वस्तुतः नायिकाएँ हैं ? राधा और गोपियों की
 कहानी अलग-अलग है । गोपियों में कृष्ण का उनके जन्म समय से
 ही अपन बीज में पाया है । उनका प्रेम, उनमें वात्सल्य से शृंगार की

ओर अक्सर हुआ है। दान सीला प्रकरण में गोपियाँ कहती हैं —

मन्द सुवन यह बात कहावत,

आपुन ओवनदान सेत हैं तापर जाइ सोइ सखन सिखावत ।

वात्सल्य से शृंगार में परिणति पाने वाले इस प्रेम का आश्रय जिन गोपियों में है वे सब विवाहिता हैं पर नारी हैं। वे कृष्ण की भर्त्सना भी इसी समय पर इन शब्दों में करती हैं—

‘सत्ता लिये तुम भरत पुनि पुनि बन भीतर सब तुम पर नारि

‘पराई’ अत गोपियों में परकीयात्न के साथ कृष्ण पातिघात है, कृष्ण गोपियों को बताते हैं —

तुम पति कियौ मोहि को मन दे मैं ही अन्तर्यामी

यह बात भी ध्यान में रखने की है कि गोपियाँ कृष्ण से उन्नत हैं। वे कृष्ण का ध्यान उनकी उन्नत की ओर भी आकर्षित करती हैं —

कहा भये अति डीठ कन्हौई,

ऐसी बात कहत सकुचत नहि कहौ अपनी लाज गबाई,

बहुत दूर बसाई बरस के बात कहत ही बन बनाई ।

कृष्ण भावक गोपी समूह से इस प्रकार दान मांग रहे हैं। नायक एक और नायिकाएँ सख्या में इतनी ? यह स्थिति शृंगार रस के लिए कुछ अटपटी है। यद्यपि सूरदास ने कृष्ण की असीमितता का किञ्चित् सहारा लेकर गोपी-कृष्ण की इस रति को भी पूर्णतः फलित सिद्ध किया है, पहले मानसिक क्षेत्र में,

‘अन्तर्यामी जानि लई’

मन में मिले सखनि सुख दीने तब तनु की कुछ सुरति मई,
और तब शरीर के क्षेत्र में। इस समस्त परिपाक से भी शृंगार रस के रतिभाव में आवश्यक यथार्थ धमस्कार उत्पन्न नहीं होता, रति सौष्ठव विस्तर जाता है, किन्तु गोपियों के इस प्रेम को सूरदास यों ही छोड़ नहीं सकते। बीरहरण से जिस रतिभाव का गोपी कृष्ण में आरम्भ होता है, सयोग शृंगार में वह रासबीला में पराकाष्ठा पर पहुँचता है। दान-सीला में कृष्ण इस बीरहरण का उत्सेस कर गोपियों के उनके मूल मनोभाव को उद्दीप्त कर देते हैं —

सबै रहीं बस माँझ उधारी,

कसे हासि मये सब सब के सो सुम सुरति बिसारी,

इस घटना के स्मरण का गोपियों पर यथोचित प्रभाव पड़ता है और दानलीला सम्पन्न हो जाने पर गोपियाँ सुख अनुभव करती हुई सोचती हैं —

जो हम साथ करति अपने मन सी सुख पायी नीके,

दान-लीला और पनघट लीला में संयोग शृंगार का शरीर विलास आरम्भ होता है। मन और शरीर के इस अवभूत प्रयास में मुरली न केवल वृत्ती का कार्य करती है वरन् उद्योपन का काम करती है।

इस विधि से मन के साथ शरीर कृष्ण के अर्पण हुआ मुरली ने मन और शरीर में एक अनोखी उमंग भर दी, मन नाचने लगा तो शरीर बिना नृत्य किय कैसे रहे नृत्य शरीरावयवी कला विलास का श्रेष्ठतम और उच्चतम रूप है इसी नृत्य की परिणति रास में हुई।

गोपियों के प्रेम अथवा रतिभाव की रास में परिणति हुए बिना कृष्ण गोपी भाव की उपलब्धि पूर्ण नहीं हो सकती थी। गोपियों के इस व्यवहार ही में तो प्रेम की अमर्यादा का वास्तविक सन्देश है, मुरली ध्वनि में सुधि बिसरा कर सर्वस्व समर्पण के लिए समस्त गोपिकाएँ जब कृष्ण के पास विह्वल आ पहुँचीं तो कृष्ण ने उन्हें मर्यादा का उपदेश दिया —

यह युवतिन की धर्म न होई,

किन्तु गोपियाँ तो मर्यादा त्याग चुकी थीं अब कृष्ण ने उनको यथार्थ महानता प्रकट की —

स्याम होंसि भासे प्रभुछा बारि,

तुम सम्मुख में विमुख तुम्हारी मैं असाध तुम साथ,

गोपियों के इस शृंगार रस प्रतिपादन का महत्व इसी अमर्यादा की स्थापना की दृष्टि से है किन्तु शृंगार रस की उत्कृष्टता एक मायका में अवलम्ब-आधम्य और नायिका से आधम्य अवलम्ब में जितनी उभरता है उतनी उम स्थिति में नहीं जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। अतः मुरदासजी ने राधा की

उद्भाषना की घोर राधा के प्रेम और रति के लिए मापिकाओं की इस समस्त शृंगार रस-नीला का पृष्ठभूमि का रूप दे डाला । गोपियों की इस पृष्ठभूमि में राधा का प्रेम अनोखे ढंग से प्रकृति पल्लवित और फलित हुआ है । गोपियों के प्रेम-मागर के मयन में जैसे राधा प्रेम रस-मपिणी लक्ष्मी की भाँति अवतीर्ण हुई दोखती है । राधा अनायास ही ब्रज की गलिया में खा जाती है । कृष्ण का उन पर दृष्टि पड़ती है और कृष्ण अनायास ही उन पर रीझ जाते हैं

खेलन हरि निजसे ब्रज खोरो

गये स्याम रवितनया के तट भग लतति चवन की लोरी
 औचक ही देखी तहाँ राधा नयन बिद्याल भाल दिय रारी
 नील बसन फरिया कटि पहिर बनो पीठि श्विर न्दकन्दोर
 सग लरिकिना चलि इति आवनि दिन पोरों अति छवि
 मूर स्याम देखत ही रीझ नैन नैन मिलि परा ठगौरी ।

तब कृष्ण ने राधा से पूछा

बुद्धन स्याम कौन तू गोरी ?

कहाँ रहति बाकी हू बटा ? देखी नाहि कबहु ब्रज खोरो ?

ता राधा उत्तर देता है

काहे का हम ब्रज तन आवनि सजति रहति आपनी पौरा

मुनति रहति यवणनि नरें डाँटा करत रहत मात्तन दधि चारी
 हम मानन दधि चारा की मामिक आट से मर्महत कृष्ण बढी
 युक्ति से राधा से कहत है

तुम्हारी कहा चारि हम सैह खेलन बसो सग मिलि आरी

मूरदम प्रभु रसिक सिरामनि धातन नुरह रा बका भारी ।

और इस प्रथम समापन और मिलन के उपरान्त ता मोरी राधिका और कृष्ण शृंगार नीला में दख हो गये । 'प्रथम सनेह' दुहुँने मन जान्यो । यह प्रथम स्नेह घोर घीरे प्रगाढ़ और गूँड़ हाजा गया ।

राधा का यह प्रेम स्वकीयात्म्य प्रेम है और अन्त में गमनीला के उपरान्त राधाकृष्ण विवाह में मफ़्त हाता है । संयोग का पूज

सुख रास रति क्रीड़ा में कलाओं से जगमगा उठता है ।

शृंगार रस की भावना का उदय वास्तव्य के सहार कराके उसकी रति की भूमि को अनोखा रंग इस कवि ने प्रयास कर दिया है । वयसन्धि की जो झिलमिलाहट नायक अम्बा नायिका में घुपछोह की भांति दिलायी पड़ती है वही वास्तव्य श्रीर शृंगार तथा सरिकाई और तरुणई की झिलमिलाहट सूर ने अपने शृंगार रस के आरम्भ में प्रविष्ट कर दी है । सङ्गमा झिझकना अर्ध स्फुट आवृत अनावृत कृष्ण गोपी और राधा का यह रतिभाव उग्र हो जाता है और लोचलाज कुरु कानि तथा मर्यादा के बन्धनों को तोड़कर प्रवाहित हो उठता है । संयोग शृंगार के इस परिपाक में आवि वाचस्पत्य से बरके अन्त रास की अनन्त गम्भीर राशि में होता है । यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस अमर्यादित गोपी प्रेम की पृष्ठभूमि में उदित राधा कृष्ण का बहु अनन्य स्वकीया प्रेम जहाँ संयोग शृंगार का सन्देश है वहाँ संयोग के उपरान्त होने वाले विरह का सूक्ष्म वर्णन अपनी वर्णना के साथ रस का आनन्द प्रदान करता हुआ सगुण और निर्गुण के द्वन्द्व को उपस्थित कर सगुण की विजय घोषित करता है । वास्तविक बात यह है कि बिना विरह के शृंगार रसान्तर्गत संयोग का न तो पूर्ण आस्वाद ही मिलता है न उसका मूल्य ही माँगा जा सकता है । रति की आध्यात्मिक परिणति वियोग विरह के द्वारा ही होती है । राधा और गोपी का विरह अनन्त होना चाहिये और अनन्त ही है पर सूर ने शृंगार रस की मार-तीव्र उपलब्धि के मार्ग को उच्छिन्न नहीं होने दिया । परकीया की भूमि पर स्वकीया की मधुर भव्य भुक्ति की स्थापना करके शृंगार रस की अमर्याद दूर की । आन्तरिक मर्यादा पर जहाँ उन्होंने अपनी दृष्टा क पूर्ण बढ़ाव है वही अनन्त विरह की आन्तरिक भाव भूमि की स्मरता विराते हुए प्रतीक वत् अन्तिम राधा कृष्ण मिलन का सुदय अंकित करके अपनी वाच्य-व्या के भाव सौन्दर्य को स्वर्ण मुहुट से अभिषिक्त कर दिया है ।

इस प्रकार शृंगार रति की इस प्रेममयी अवतारणा का कवि न यमनिका पात कराया । पाठक ने कृष्ण गोपी और राधा कृष्ण की रति के भाव पर परिपक्व इस शृंगार रस का आस्वाद भसी भांति किया । शृंगार ने संयोग और वियोग दोनों पक्षों से सन्तुष्ट

रक्षने वाली समस्त वधाघों अवस्थाघों स्थितियों में होकर उसका मन गया । कण्ठ और गोपी तथा राधा कण्ठ के अन्तरमन के समस्त उद्घर्षनों को उसने देखा उनकी बाह्य अभिर्ष्यभमाघों में होकर भी उसने मार्ग निकाला और अन्त में मृगार रस की अनन्त शक्ति से उसका मन तप कर कथन की भाँति जगमगाता हुआ भक्ति भाव की पवित्रता से अभिमन्त्रित हो गया ।

सूरदास का विरह-वर्णन

सूरदास हिन्दी गगन-मण्डल के सूर्य हैं। यही वह महाकवि है जिसने काव्य को हिन्दी में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया जिसने हिन्दी में उस स्वर्ण-युग की अवतारणा की। इस कवि ने अपनी प्रतिभा से अध्यात्म दशन भक्ति और सगुण ब्रह्म को बला का चैरा अथवा माध्यम बना दिया। इससे काव्य का धरातल ऊँचा उठा। पर ये विषय भी व्यर्थ हो उठे।

इस महाकवि ने यों तो प्रसंगबद्ध सभी रसों का यथास्थान समावेश किया है—वीर कुण्ड हास्य अद्भुत रौद्र भयानक सान्त् के छीटे जहाँ-जहाँ हमें इनके महाकाव्य सूरसागर में मिल जाते हैं। किन्तु वास्तव्य और शृंगार ही इस कवि के प्रधान विषय रहे हैं। वास्तव्य तो इनका अद्वितीय है ही शृंगार में भी सूर की समानता कोई नहीं कर सकता। शृंगार के सपाग और विमोग पद लीला में ही उत्कृष्ट की पराकाष्ठा है। उनके कुण्ड चरित्र के निरूपण में वास्तव्य और संयोग शृंगार वियोग की भूमिका मात्र है। कवि ने वास्तव्य और सपाग रति के द्वारा कुण्ड को गोपियों के लन-मन में रमा दिया है उनसे अनिष्ट बर दिया है। गोपियों से ही नहीं ब्रज के पशु-पक्षियों से भी ब्रज के फला-पतामो से भी। जैसे ही सपाग भाव का पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है वियोग आ उपस्थित होता है।

सूर के विरह-काव्य का आधार बहुत सूक्ष्म और साधारण है। कुण्ड गात्र से मचुरा चले गया। अकूर उनका सने आये उसी समय से ब्रज में लन हलचल चल गयी। विरह का आभास प्रस्तुत हो गया। गोपियों क्षिप्तचित्त बनी। यद्यपि राग-धार प्रथनी है—‘यथाथा बार बार या भाये’

हैं काउ ब्रज में द्रिगु हमारी चण्ड गुणालहि राग —

किन्तु विकसता और दीर्घ भाग का कोई भी परिणाम नहीं निकला। कृष्ण मथुरा चले ही गये और गोपियों को अत्यन्त विरह दे गये। व्रज को सूना ही नहीं कर गये उजाड़ गये। आशेषकों का कहना है कि गोपियों और व्रजवासियों का यह दीर्घ विरह-उत्साप अम्भ्याभाविक है। कृष्ण गोकुल नहीं आये तो गोपियाँ मथुरा जा सकती थीं। कितनी उपहासास्पद युक्ति है समस्त गोकुल मथुरा पर आक्रमण कर दे। वहाँ क्या कृष्ण को वे उसी रूप में पा सकते थे जिसमें उन्होंने गोकुल में पाया था— नहीं नहीं प्रेम कितना ही अच्छा अथवा पागल क्यों न हो वा अपनी प्रतिष्ठा नहीं गँवा सकता। मान प्रेम का सबसे बड़ा आधार है वही प्रेम को पुष्कल होने से बचाता है। गोपियाँ मथुरा नहीं जा सकती थीं यही कारण है कि गोपियों के विरह की नीग्रहा और उग्रता को समझते हुए भी कृष्ण ने कभी यह संदेह गोपियों के पास नहीं भिजवाया कि वे मथुरा आ जायें।

प्रेम से अधिक सम्बेदनशील कोई दूसरा भाव होता ही नहीं। वह प्रेमी की पीठ फिरना भी सहन नहीं कर सकता स्थानान्तर तो बहुत भारी बात है।

तो सूर के विरह-वर्जन में हमें तीन प्रकार के पात्र मिलते हैं। एक है मातृ पिता दूसरे हैं गोपियाँ तीसरे हैं राधा। माता पिता का विरह वात्सल्य विरह है।

अक्रूर जिस समय से कृष्ण का मथुरा से जाने की बात कहते हैं उसी समय से यदोदा की विकसता अत्यन्त तीव्र है—वह पहले तो अक्रूरजी को ही समझाती है —

‘यमुदा कह सुनहु अफ लक्ष्मण

मे पयपान जसन करि पारे।

ए कहा जानहि समा राज की

ए गुरुजम विप्रौ न जुहारे ॥

न तो शिष्टाचार जानते हैं, और न मथुरा की बातों से ही परिचित हैं —

‘सूरदास स्वामी ए सरिका,

इन कथ देने मस्त बसारे’

ये वहाँ जाने के योग्य नहीं। किन्तु बफूरजी तो क्रूर हो गये। वे यशोदा की बात नहीं सुनते।

यशोदा के 'छगन-मगन' को कंस ने बुसा भेजा है। बफूर-सुफलंकसुत ही काल रूप होकर यशोदा के प्राणी का धात करने के लिए आये हैं। यशोदा क्या करे, कैसे कृष्ण को रोके? वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति त्याग देने की तय्यार है। कंस उसको सबस्व छीन ने उसे बन्दी बना ले पर केवल कृष्ण को उसकी आँखों के आगे ही खोलने दे।

बद ए गोपन हरी कंस सब

मोहि बंदि ले मेसी।

इतने ही सुख कमल मैं

मेरी प्रीतियन लागि बेसी।

भँबेरा धिरता आ रहा है, यशोदा की बँबसी बढ़ती जा रही है। कौन सुनता है उसकी पुकार! कृष्ण जाने को तत्पर हो गये। यशोदा कह उठती है—

मोहन—

मोह यशोदा के मुख से कितना सार्यक सख निकल पड़ा है, जो दूसरे को सम्मोहित कर ले, पर जिसमें स्वयं मोहन हो, तो यशोदा कहती है रिरियाती हुई—

मोहन नैक बदन तन हेरो।

राखो मोहि मात जननी को

मदन गुपाल मात मुख हेरी।

पाछे षडो बिमान मनोहर,

बहुरो, यदुपति, होत भँबेरो।

बिछरत भेट देहु बाड़े हैं

निरगो घोष जनम को लेरो।

माता के प्यस्त हृदय की पीड़ा इस व्यवहारिक दमों के पीछे झोक रही है। यशोदा जिस मातृत्व में मैं कृष्ण नहीं समाती थी उसी मानुष्य गम को समाधि स्वयं यशोदा ही बन गयी। यह वैबुधविपाक नहीं तो और क्या है—क्यों मैं स्वयं उसी यशोदा का हूँ जो कभी कहती थी ?

"सूरदास भौ गोधने की सौं हों मातां तू धूत"

हा ! उस भौली यशोदा को क्या पता था कि किसी दिन
मग्न हृदय से उसे यह सन्देश भी भिजवाना पड़ेगा—

सदेसी देवकी सौं कहियौ ।

हौं तो घाय तिहारि सुत की

मया करत ही रहियौ ।'

किन्तु गोपियों के प्रेम की अवस्था कुछ और है । उनके प्रेम
में कृष्ण का समस्त रूप सामने उभरा हुआ है । उनके भावों की
कोई सीमा नहीं । गोपियों के इस विरह की सूर में हमें दो
अवस्थाएँ विशेष उग्र मिलती हैं एक प्रतीक्षा की दूसरी निराशा
की । उदय के बड़े आगमन से पूर्व तक की अवस्था प्रतीक्षा के
विरह की अवस्था है । उसके बाद की निराश-विरह की ।

कृष्ण के जाने से ब्रज की क्या अवस्था होगी थी, उसका
परिचय उदय ने लौट कर कृष्ण को दिया था—

केहूँ सौं कहिए ब्रज की बात ।

मुनहु स्याम । तुम बिनु उन

सोगन जैसे विवस विहात

गोपी, मारि, भाय, गोमुत

सब मसिन बदन, कुसगोत

परम दीन जनुं विधिरे-हेम-हत

भ्रंवे भंगत बिनु पारै

जो कहूँ आवत देखत है

संबे मिलि ब्रूकत कुसलात

बसंत न देत प्रेम-आतुर उर,

फिरि परमन सपटात

पिक, पाठक ब्रज बसत न

पावहि, बोयस बलिहि न खात

सूरदास सन्देशन के कर

परिक न वा भग जात ।

मन के लता-वेलियाँ तक बिरह से उत्पन्न हूँ और गायों का तो दुःख अनिर्वचनीय है—उनकी दशा गोपियों ने उद्धव को बताया है 'अल-समूह वरसति योऽन्ध्रं शीतिमि हंकरति मीने नौव' कोई कण्व का माम भी ऐसा है तो कोई हँक उठती है। यही नहीं कण्व ने जहाँ-जहाँ उनका पूष दुहा है वहाँ जाकर—

परति पछारि साह तेहि-तेहि
मिल अति आतुर हूँ मीन
मानहु सूर काढ़ि डारी हूँ
बारि मध्य तैं मीन"

जब पशु-मत्सियों की यह दशा है तो गोपी-गवालों की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

गोपियाँ बिघर दुष्टि डालती हैं उधर ही उन्हें कण्व का स्मरण हो आता है। वे बिदवास नहीं कर सकती कि उनके बियाप में किसी वस्तु की दशा पूर्व जैसी ही रह सकती है तभी वे मधुवन को हरा-भरा देख कर पूछती हैं—

मधुवन तुम कत रहत हरे
बिरह बियोग क्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे।
और वे स्मरण करती हैं—
मोहन वसु बजावत द्रुम-तर साखा टेकि घरे
मोहे बाबर अह जड़ जगम मुनि मन ध्यान टरे
बह चितवनि तू मन न परत है फिर फिर पुहुप घरे

गोपियों के शरीर में तो यह देन कर नभ से शिवा नभ आग लग जाती है। एक ओर बिरह में शरीर का उत्ताप है, दूसरी ओर नेत्रों से आँसुओं का झर—तभी तो कहती हैं—

ब्रज तैं द्वै रितु पै न गई
पावस अह शीपम प्रबण्ड सति ! हरि बिमू अधिक भई ।
ऊरष स्वांस समीर, नयन धन, सप जल जोग धूरे
बरसि जो प्रगट किए पुण्डादुर हुते जे दूरि हरे

विषम वियोग दुसह दिनकर सभ दिन प्रति उदय करे
हरि विषु विमुख भये कहि सूरज को तन ताप हरे ।

इन बजमारे नशों से बादल भी परास्त हो उठते हैं । बावस
तो समय पर बरसते हैं पर कण्ठ वियोग में—

बिम्बु ही रिसु बरसत
निसि बासर सदा सबस दोउ तारे
सुमिरि सुमिरि गरजत मद
छाँड़त मलु सलिल बहु धारे

वियोग में उनकी विषम स्थिति और भी विडवना पूर्ण उस
समय हो जाती है जब कण्ठ को 'पानी आती ह । वे अपने प्यारे
के पत्र को पढ़ने के लिए व्यग्र हो उठती हैं । पर हायरे 'यह
पाती भी बिरह की कानी बन जाती है छरी बन जाती है ।
दुख का उद्वेग और बढ़ जाता है—अवस्था यह होती है कि—

'नन सबस कागद अति
कोमल कर जोगुरी अति ताती
परस जरे विलोकै भीजें
बुह माँति बुल छाती

यशोदा माता का बिरह भी अकथनीय है । न वे पत्र पढ़ ही
पाती हैं न लिख ही पाती हैं । वियोग कुछ करने ही नहीं देता ।
वे संदेश पर संदेश भजती हैं

'संदेसनि मधुवन कूप भरे

किन्तु सौटकर संदेश का उत्तर नहीं आता । विवश गोपिकाएँ
इसी प्रकार कण्ठ की जाट जोहती हैं । इस प्रतीक्षा में वे तड़प
रही हैं । जितने भी कण्ठ के सयागी वे वे उनके वियोग में आज
धनु हो गये हैं । य मोर भी तो आज न आने कब की शत्रुता
निवाला रहे ह । रोजने पर भी वृष नहीं होते । अरे ! बादलों को
गरज ही हृदय को कुचलने के लिए क्या कम ह । पर ये मोर
जितना रोको उतना ही कुहकते ह । बिरह व्यथित गोपिकाओं के
मानी हृदय पर मार का कुहक क आयात न जो असहनीय पीड़ा
होती होगी उसका क्या अनुमान लगाया जा सकता ह । किन्तु
इन पर वृष नहीं हैं ।

ब्रज के स्त्रियाँ-बैलियाँ तक विरह से उत्पन्न हैं और गायों का तो दुःख अनिर्वचनीय है—उनकी दशा गोपियाँ ने उद्यम को बताई है 'बल-समूह वरसति योऽर्ध आश्रमि हुँकरति स्त्रीने माव' कोई कृष्ण का नाम भी सता है तो कोई हुँक उठती है। यही नहीं कृष्ण ने जहाँ-जहाँ उनका वृष दुहा है वहाँ जाकर—

“परति पछारि साह तेहि-सेहि
मिल अति आसुर हैं दीन
मानहु सूर जाहि डारी हैं
बारि मध्य तैं भीन’

जब पशु-मलियों की यह दशा है तो गोपी-बालों की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

गोपियाँ जिधर दृष्टि डालती हैं उधर ही उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आता है। वे विश्वास नहीं कर सकती कि उनके वियोग में किसी वस्तु की दशा पूर्व जैसी ही रह सकती है तभी वे मधुबन को हरा सरा देख कर पूछती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग क्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न अरे।
और वे स्मरण करती हैं—
मोहन बेनू बनावत ब्रुम-सर साक्षा टेकि करे
मोहे धाबर अरु अङ्गम मुनि मन ध्यान टरे
वह विलसति तू मन न भरत है फिर फिर पुरुष भरे

गोपियों के धरीर में तो यह देख कर नख से शिखर तक आग लग जाती है। एक ओर विरह में धरीर का उत्साह है, दूसरी ओर नेत्रों से आँसुओं का झर—तभी तो कहती हैं—

ब्रज छैं है रितु पै न गईं
पावस अरु प्रीयम प्रवण्य सति । हरि बिनु अधिक गई ।
ऊरध स्त्रांस समीर मयन मन, सब जल बोग भूरे
बरसि जो प्रगट किए दुखदादुर हुते जे हरि हरे

विषम वियोग दुसह दिनकर सम दिन प्रति उदय करे
हरि विभु विमुक्त भये कहि सूरज को तन ताप हरे ।

इन बजमारे मर्जों से बाधक भी परास्त हो उठते हैं । बादल
तो समय पर बरसते हैं पर कण्ठ वियोग में—

बिनु ही रितु बरसत

निसि वासर सदा सजल होत तारे

सुमिरि सुमिरि यरजत अब

छाड़त अम्बु ससिल बहु भारे

वियोग में उनकी विषम स्थिति और भी विडम्वना पूर्ण उस
समय हो जाती है जब कण्ठ को पाती जाती है । वे अपने प्यारे
के पत्र को पढ़ने के लिए व्यग्र हा उठती हैं । पर हाथरे 'यह
पाती भी बिरह की काँपी बन जाती है छुरी बन जाती है ।
दुःख का उदग और बढ़ जाता है—अवस्था यह होती है कि—

नैन सजल कागद अति

कोमल कर धौगुरी अति ताती

परस अरे विष्णोके भोजे

दुह माति दुख छाती

मधोवा माता का बिरह भी अक्षणीय है । न वे पत्र पढ़ ही
पाती हैं न लिख ही पाती हैं । वियोग कुछ करने ही नहीं देता ।
वे सदैव पर सदैव भेजती हैं

सदैवमि मनुबन कूप भरे

किन्तु सौटकर सदैव का उत्तर नहीं आता । बिबदा गोपिकाएँ
इसी प्रकार कण्ठ को खाट जोहती हैं । इस प्रसीक्षा में वे तड़प
रही हैं । जितने भी कण्ठ के सयोगी वे वे उनके वियोग में आश
घनु हो गये हैं । ये मोर भी तो आश न जान जब की घनुता
निबाल रह है । रोबने पर भी धूप नहीं होत । अरे ! बादलों की
गरज ही हृदय को कुपलन के लिए क्या कम है 'पर ये मोर
जितना रोको उतना हा कुहकते हैं । बिरह व्यथित गोपिकाओं का
मामी हृदय पर मोर का कुहक के आघात से जो अमहनीय पीड़ा
होती होगी उसका क्या अनुमान लगाया जा सकता है । किन्तु
रस पर का नहीं है ।

‘धन मरजें बरजें सहि मानत यपी-रपी रहत बरे’

ये तो कृष्ण ने ही उईठ कर दिये हैं ‘कर इक ठौर चीनि इनके पैंस मोइन सीधु बरे ।’ कृष्ण ने ही इन्हें सिर धका रखा था—‘याही ते बिरहीन को मारत हरि ही बीट करे’—पर ये मर्हा से टस क्यों नहीं आते, “सूरदास परदेस बसे हरि ये ब्रज ते न टरे’ गोपियों को विपाद में यह खीज हो उठती है

इस प्रकार प्रतीक्षा में दिन बीत रहे थे, प्रति दिन प्रतीक्षा की कि कृष्ण आयेंगे—किन्तु वर्षा ऋतु आगयी । वर्षा में सभी के पति लौटते हैं, उनके प्रिय कृष्ण भी लौटेंगे, पर नहीं आयें—बादलों को समझता देखकर गोपियों के हृदय में एक ठूक उठी, उन्होंने कहा—

बस ये बहराऊ बरतबन आये ।

मपनी भबधि आनि नैव मन्दन गरजि गगन बत छामे ॥

बरे ये तो अपने समय पर आये हैं और गरबते हुए इके की बोट आये हैं । इन्होंने अपने सभी प्रियजनों को प्रसन्न कर दिया है

‘हुम किए हरित हरप बेनी

मिलि पाठक मुठक जिबाये—

ये बावस अपने प्रियजनों को सुख देने के लिए बड़ी दूर-दूर सोक से आये हैं—दूसरे के जाकर होते हुए भी समय पर आ गये—पर

‘सूरदास प्रभु रसिक-धिरोमनि मधुबन बसि बिसराये’

गोपियों के हृदय टूट रहे हैं । बिरह-विपाद की ज्वाला से ब्रज जल रहा है । पणिकों ने यह मार्ग छोड़ दिया है । पशु-पक्षी भी एकाग्र कर गये हैं । गोपियाँ ही और उनका ब्रज है—उजाड़, भूतसान भयावह । सभी उठक ‘कृष्ण की ऐसी भूपा में गोपियों को समझाने आते हैं । निर्गुण और योग का सन्देश सुनान । इसी से तो गोपियों को सान्त्वना हो सकती है । पर उठक का सन्देश गोपियों के जल पर नमक छिड़क देता है । वे यह कल्पना भी नहीं कर सकती कि कोई इस बिरह में इस प्रकार के सन्देश देने की धृष्टता भी कर सकता है । उनके हृदय की तिमिरिगाहट की अनुमति वीस हो सकती है । वे उठक से अत्यन्त मुखर हो उठी

हैं । उनकी पीड़ा कटाक्ष-व्यग-उपहास में परिणित हो उठती है । वे उद्वेग को कृष्ण-संज्ञा समझकर उनका बड़ा आदर करती हैं बड़े समय से बात करने की चेष्टा करती हैं पर क्या करें विवश होकर कुछ प्रेमोग्याव शस्त कहनी अनबहनी भी कह जाती हैं । किन्तु उनकी समस्त बातों का सार यह है कि—

ऊधौ मन न भये दस बीस

एक हुतो सो गयो स्याम सग को अवराधै ईस ।

तुम हमें हमारा मन ला दो हम निर्गुन की उपासना करने लग जायेंगी । पर शायो तो तुम हमारे मन को । वह मन तो श्याम के आने पर ही आयेगा ।

यह भ्रमरगीत विविध विषय भावों व उद्धेस्कों से परिपूर्ण है—गोपियों का हृदय विरह से भर रहा है । पर उन्हें उद्वेग की बातों का उत्तर भी देना पड़ रहा है । उद्वेग के उपदेशों से संतोष नहीं होता है—वह तो और बढ़ता है

धौलियां हरि दर्शन की भूमी ।

कैसे रहें रूप रस राखी ये बतियां सुनि कूली ।

अवधि गनत इकटक भग जोवत तब इसनी नहि भूली ।

अब इन जाग सदेसनि ऊधौ अति अकुसाती दूली ॥

इस गोपियों को ब्रज क कुज अग्निपूज हा गये हैं । उनकी पीठकता दाहक हा गयी है । उन गोपियों को रगता है ।

बुधा बहति जमुना सग बालत

बुधा कमल फूलें अरि गुनै ।

पवन पानि घनिसार सबीवन

दधि-मुत फिरन मानु मइ भुज ।

ये सब 'भूजे' डालती ह । यहाँ इन्हीं भुज्जर गोपियों में गीत राधा की अवस्था भी ता देखिय —

अति मलीन रूपभानु कुमारी—

हरि स्वमजसु अतग्ननु भीज

ता मालव म भुजावति मारी ।

अथ मुक्त रहति, उरथ नहि चितवति
 ज्यों गंध हारे नकिंत जूआरी ।
 छूटे विकृर, वदन कुम्हलाने
 ज्यों मलिन। हिमकर की मारो ।
 हरि सर्वेष्ट सुनि सहज मृतक भई,
 इक विरहिन दूजे अलि जारी ।
 'सूर' स्याम विनु या बीवति है,
 ब्रज बनिता सब स्याम दुलारी ।

गोपियों से सम्मानित और निरादृत होकर उनके प्रेम की गहराई की वियोगानुभूति से प्रभावित होकर उद्यब अपनी ज्ञान गरिमा को बैठे । उद्यब ने कृष्ण को ब्रज लौटने की बात कही पर ब्रज लौटना कहा ? वे तो मथुरा छोड़कर द्वारिका चले गये । जो निराश विरह उद्यब के आगमन से आरम्भ हुआ था उसकी पराकाष्ठा इस सम्वाद से हुई कि कृष्ण द्वारिका चले गये, और भी दूर चले गये तब गोपियों ने एक दीर्घ निराश-निश्वास छोड़ कर कहा—

नैना भये अनाथ हमारे ।
 मदन गुपाल उहाँ हैं सबनी ।
 सुनियत दूरि सिधारे ।
 वे जलहर हम मीन बापुरी
 कैसे जिबहि मितारे ।
 हम बातक बकोर स्याम जन
 वदन सुधानिधि प्यारे ।
 मधुबन बसत आम वरसन की
 जाइ जोइ मय हारे ।
 'सूर' स्याम प्रभु करी प्रिय ऐसी
 मृतक हुत पुनि मार ।

मृतकों को मार कर कृष्ण दूर चले गये । गोपियों का निराश विरह की बाती गोंग गये । सूर जैसे महाकवि ने अपनी

शक्ति से इस वियोग की प्रत्येक वधा के साथ हृदय की पीड़ा का चित्र देना चाहता हूँ । वह चित्र अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि व्यथा घनीभूत होते-होते एक स्तर पर पहुँची है, उससे भी ऊपर उठी है और कवि के शब्द उसके प्रकट करने के लिए स्फुट संकेत जैसे रह गये हैं । जब सूर की यह दशा है तो और कौन कवि विरह को यथार्थ व्यक्त सकता है ।

सूरदास के कृष्ण

सूरदास वल्कम-सम्प्रदाय के कवि हैं। वल्कम-सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्रीवल्कम और श्री विठ्ठल ने जो अष्टछाप बनाया, सूरदासजी उसमें प्रधान हैं। अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण भक्ति का प्रचार करने में कितनी सहायता पहुँचायी इसने कहने अथवा प्रमाणित करने की आज आवश्यकता नहीं। निश्चय ही सूरदासजी के 'कृष्ण' केवल राधा अथवा गोपी मात्र के प्रिय तम उनके शृङ्गारी-हाँचे की आत्मा नहीं न रीति-कासीन कवियों के कृष्ण की तरह किसी नायिका के प्रियतम ही है। वे एक विशेष बिम्बास और सम्प्रदाय की वस्तु हैं। वल्कम-सम्प्रदाय की दृष्टि में कृष्ण ब्रह्म हैं। वह विष्णु, ब्रह्मा और शिव सब से परे हैं। फर्ग्युहर साहब ने अपने ग्रन्थ *An Outline of the Religious Literature of Hindus* में लिखा है—'सत्-चित् आनन्द जो ब्रह्म है, कृष्ण उसी की एवमात्र सत्ता है। अग्नि से पिनगारियों की तरह कृष्ण से यह पदार्थ-ससार, आत्माएँ और अन्तर्यामिन् अथवा अन्त निवसित देव प्रोद्भासित हैं। आत्माओं में जो परिमाण रूप और ब्रह्म के तुल्य हैं तीनों गुणों की सम-अवस्था में विकार हो जाने के कारण आनन्द-गुण विमुक्त हो जाता है। अतः उनमें केवल सत्-चित् गुण ही मिलते हैं। मुक्तआत्माएँ कृष्ण के स्वर्ग को जाती हैं—जो कि विष्णु, शिव और ब्रह्मा के स्वर्ग से कहीं ऊपर है और वहाँ कृष्ण के प्रसाद से वे दिव्य विभूतिमय द्युत अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।'

इसकी पुष्टि आर० जी० भाण्डारकर के शब्द से भी होती है। वेस कहते हैं—'श्रीकृष्ण परम ब्रह्म है उसका शरीर सत्-चित्-आनन्दमय है। वह पुरुषोत्तम कहलाता है, अतः कृष्ण परमात्मन् है। उसकी इच्छा से उसका सत्त्व भक्ष आनन्द भेदा को दया बता है और अदर अथवा अपरिवर्तनशील होकर

यह सब कारणों का कारण होता है और जगत् की सृष्टि करता है। यह अक्षर ब्रह्म वो प्रकार का है—(१) वह जिसे भक्त पुरुषोत्तम का स्थान मानते हैं जिसमें व्यापी वैकुण्ठ आदि के कण्ठ होते हैं। (२) जानियों को यह सब पित और आत्मन् काल और दश में असीम स्वोदभूत और सब गुणों से दून्य विस्तारयी देता है। अत जिस रूप में वह जानियों को विस्तारयी देता है, उसमें अस्तित्व-गुण छिप जाते हैं अथवा उक्त अलक्षित शक्ति के द्वारा वे अदृष्टिपीत कर दिये जाते हैं। अत उनका अभाव नहीं माना जा सकता। जब ब्रह्म का सब गुणों से रहित बतलाया जाता है तब उसका ठीक यही तात्पर्य होता है। अत परमात्मा के तीन रूप हैं अक्षर ब्रह्म के दो।

पुरुषोत्तम परमात्मा का रूप है। वही सबका शासनकर्ता है, इसके लिए उसका वह रूप जो सूर्य देवो पृथ्वी आदि में रहता है अन्तर्यामी कहलाता है। यह अन्तर्यामी ही प्रसिद्ध रूप से अवतरित होता है। कण्ठ का विषय सत्त्व गुण विष्णु हो जाता है। इस रूप में वह सब का पापक है। इस प्रकार राजस् और तमस् गुण ब्रह्म तथा छिब होकर सृष्टि और संहार का कार्य करते हैं।

इन अवस्थाओं को देखने से इसमें किंचित भी सन्देह नहीं रहता कि वल्क्य सम्प्रदाय में कण्ठ को विष्णु से—त्रिदेवों से ऊपर माना गया है। जब देखना यह है कि सूरदासजी ने वल्क्य-सम्प्रदाय की अवधानता में काव्य रचना करते हुए कृष्ण को किस रूप में स्वीकार किया है।

मुरसामर में स्थान-स्थान पर कण्ठ के लिए 'हरि' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त कमला नायक, माधव मुरारि, केशव राजिवनन, गोविन्द त्रिभुवनपति आदि शब्दों का प्रयोग भी है। ये सभी शब्द विष्णु के लिए प्रयोग में आते हैं। दीमामाय कवचानिधि आदि साधारण विषयता-द्योतक शब्दों का भी प्रयोग है।

विनय का यह पद 'हरि' नाम से ही प्रारम्भ हुआ है—

'धरण कमल बन्दों हरि राई'

'माधव का प्रयोग निम्नलिखित प्रसङ्ग में हुआ है—

‘माधव जू नैक हटकी गाइ’—भाणी की वाचाकता के सम्बन्ध में माधव से प्रार्थना की गयी है ।

‘माधव जू ओ अन ते विगरी

× × ×
 ‘कै हमहीं कै सुमही माधव अपनु भरोसे लरिहों,
 ~ ~ +

‘भनारे माधव सों करि प्रीति’ आदि—

‘मुरारी’ का प्रयोग देखिए—

‘अव कै माध मोहि उबारि
 मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपा सिन्धु मुरारि ।

× × ×
 ‘तुम सर्वज्ञ सबे बिधि समरथ असरन सरन मुरारी ॥”

× × ×
 ‘रे रे अथ बीसहू कोचन पर तिय हरन बिकारी ।
 सुने भवन गवन तै कीन्हौ, सेस रेख नहि टारी ॥
 अबहू कहाँ सुने जो मेरी आये निकट मुरारी ॥

अन्तिम उद्धरण में ‘मुरारी’ श्रीरामचन्द्रजी के लिए आया है । ‘राम-मुख’ का वर्णन करते हुए सूरदास जी लिखते हैं—

सुरपुर ते आयो रथ सबि कैं रघुपति भये संवार ।
 कापी भूमि कहा अब छै हे सुमिरख नाम मुरारि ॥

वामन-अवतार के सम्बन्ध में लिखते हैं—

ए ती बिप्र न होबे राजा, आये खलन मुरारी ।

कहि धौं दूक कहा धौं कीबै, आपुन भये भित्तारी ॥

यहाँ वही ‘मुरारी’ शब्द ‘वामनावतार’ के लिए लाया गया है । अब ‘गोविन्द’ शब्द को लीजिये—

गोविन्द कोपि चक्र बर सीन्हों ।

भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए जिस समय श्रीकृष्णजी ने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ दिया उस स्थल का वर्णन करते हुए श्रीकृष्णजी ने लिखे ‘गोविन्द’ शब्द का प्रयोग किया गया है ।

‘गोविन्द सी पति पाय, कहाँ मन अनत लगावै ।’

महो विनय में दृष्टदेव को 'गोविन्द' नाम से पुकारा गया है ।

‘श्लेष्मन् असिन् बाल-गोविन्द

बाल लीला के वर्णन में ‘बाल-गोविन्द’ धीकृष्ण के लिए है ।

पुनः ‘गोवरचन धारण’ में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा गया है—

‘जय भावय गोविन्द मुकुन्द हरि’

धीकृष्ण को ‘राजिव नम’ कमल नयन’ आदि नामों से भी सूरदासजी ने स्मरण किया है । यह सभी नाम विष्णु के पर्यायवाची हैं । इन नामों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास के लिए श्रीकृष्ण विष्णु भगवान के अवतार थे ।

फर्कूहर के कथन से विदित होता है कि बल्सभ-सम्प्रदाय वाले कृष्ण को ब्रह्मा, सन्-चित्-आनन्द-स्वरूप मानते हैं और उसे विष्णु ब्रह्मा और महेश से परे समझते हैं ।

ब्रह्मा विष्णु और महेश—यह त्रिमूर्ति पुराणों द्वारा विकसित धर्म का मूल है । अठारह पुराणों में से प्रायः सभी पुराणों ने इन्हीं विदेवों में से किसी एक का प्रधानता देकर उन्हीं सम्बन्ध में कुछ विभिन्न धर्मों का गान किया है । समा पुराण इन देवों में से किसी न किसी के महत्त्व और गौरव का प्रतिपादन करने के लिए लिखे गये प्रतीत होते हैं । इन पुराणों ने प्रत्येक देव का एक विशेष रूप खड़ा कर दिया है । उसका धर्म और उसके कार्य एक विशेषता ब्रिय हुए हैं जिसमें तीनों देव बिना हिचकिचाहट के स्पष्ट पृथक् जाने जा सकते हैं ।

सूरदासजी ने हमें विष्णु के वर्णन मिलते हैं । सभी वैष्णवों की तरह यहाँ धीकृष्ण का अवतार तो माना ही गया है । अनन्त स्वप्न में यह भी स्पष्ट सूचित होता है कि धीकृष्ण अवतार तो हैं ही परन्तु विष्णु के अवतार हैं । कृष्ण का वर्णन करते समय यहाँ उन्हें त्रिमूर्ति के अन्य दोनों के वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है यहाँ उन्होंने ब्रह्मा और शिव—इन दो देवों का ही वर्णन किया है विष्णु का नहीं । इससे भी बड़ी स्पष्ट होता है कि वे कृष्ण को विष्णु समझते हैं अन्यथा वे विष्णु का भी वर्णन साथ ही करते जैसे तुलसीदास जी ने अनन्त स्वप्न में किया है ।

ऐसी दशा में हम नहीं मान सकते कि सूरदास कृष्ण को ब्रह्मा

समझते हैं और उन्हें विष्णु ब्रह्मा और महेश, इन तीनों से ऊपर कोई शक्ति मानते हैं ।

ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जहाँ कण्ठ को अवतार बताया गया है । अपनी स्वामाविष्णु सुन्दर शैली में सूरदास ने बड़े ही श्लाघनीय ढंग से श्रीकण्ठ को विष्णु का अवतार बतलाया है । वही विष्णु जिनकी नाभि के कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, वही विष्णु जिसने दश अवतार ग्रहण किये, राम बनकर सीता खोजी, रावण का सहार किया तथा बामन बनकर बलि को और चीन बर्षों में सारे लोकों को नाप लिया, वही विष्णु जिन्होंने परशुराम बनकर पृथ्वी को क्षत्रिय रहित करने की प्रतिज्ञा की वही विष्णु जो शेषसायी और क्षीर-सागर-निवासी हैं वही मागवत् के विष्णु हैं । बामन-अवतार का वर्णन करते हुए सूरदासजी लिखते हैं —

ए ती विप्र न होवे राजा आये छलन मुरारो
कहिषौ शुक कहाँ कीजे आपुन मए भिसारी
जब ही उदक दियो बलि राजा बामन वेह पसारी,
जय जयवार भयो भुवि नापत तीन पड भई सारी,
आध पैड वे बसुधा राजा, नासक बल सत हारी,
अब सत भयो हारो जगस्वामी नातौ वेह हमारो,
सूरदास बलि सबस दीनी पायो राज पतारी

जानकी के वियोग में रामचन्द्रजी की बिह्वल दशा का बणन करते-करते कवि अपनी टिप्पणी देता है — 'सूरदास प्रभु प्रिया प्रेम-वस, निज महिमाहु बिसारी' — 'निज महिमा' से सूरदास (प्रभु की ओर) उनक बिष्णुत्व की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं ।

श्रीकण्ठ जन्म के समय विष्णु के दर्शन का वर्णन है —

'हरि मुख देखिये यमुदेव

बाटि काम सरूप सुन्दर काठ न जानत भेब ।

चारि भुज आके चारि आयुध निरख सै कर साठ ॥

यहाँ 'जोड़ न जानत भेब' और 'चारि भुज आके चारि आयुध' ये वाक्य कण्ठ व विष्णु अवतार की ओर संकेत कर रहे हैं ।

अब श्रीकृष्ण के स्वप्न का वर्णन देखिये । सूरदास कृष्ण में जिस शक्ति का अनुमान करते हैं, उस शक्ति का स्वप्न भी किसी वास्तविकता से दूर नहीं हो सकता । साधारण मनुष्य भावें न समझ सके, परन्तु दिव्य-दृष्टि के लिए—देवताओं के लिए बहुरहस्य इयमा गुप्त नहीं रहता । उसे देख कर ब्रह्मा तथा शिवजी भ्रम में पड़ जाते हैं—

‘देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कप्यो, ईस बिरोंच भ्रमावे’—

ब्रह्मा और शिव को भ्रम में डालने वाली बात यह है—

स्वात उदर उरसति यौ मानों, दुग्ध सिंधु छवि पावे ।

नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावे ॥

कर सिरतव करि दयाम मनोहर अम्क अधिक सौ भावे ।

सूरदास मानों पद्मगपति, प्रभु ऊपर फग छावे ॥

पालने का समय यशोदा और गोकुल-वासियों की दृष्टि में है । परन्तु देवताओं की दृष्टि में बही शेषशायी विष्णु का समय है । यहाँ सूरदास ने लोकों की अर्थात् ससार की दृष्टि और देवों की दृष्टि अलङ्कार के सहारे बड़े ही कौशल से एक स्थान पर रखदी है । इसको जानकर फिर कोई सन्देह नहीं रहता कि श्रीकृष्ण की लीकिक क्रियाएँ अपनी देवी क्रियाओं से पूर्ण तुल्यता रखती हैं । वे अलौकिक की प्रतिरूप हैं । श्रीकृष्ण—बहु श्रीकृष्ण जो यशोदा के पालने में समय कर रहे हैं शेषशायी विष्णु ही हैं ।

फिर सूरदास कृष्ण को ही दशों अवतार लेने वाला बतलाकर हमारे निरक्षर को और भी दृढ़ कर देते हैं । यहाँ कवि ने काम्य-कौशल से काम लेकर हमें यह दिखाया है कि भगवान् विष्णु न सगुण बालरूप कैसे धारण कर लिया? माता के लिए वह किस रूप में प्रकट हुंसे हैं ? माता यशोदा कृष्ण से कहती हैं कि हे साल ! जङ्गल में हीमा भा गया है इसलिए दूर खेलने न जाना । बलराम को यशोदा के इस मातृोचित आदेश पर हँसी आ जाती है । ये श्रीकृष्ण के विराट् अवतारशील रूपों का स्मरण करते हैं । साथ ही इस समय के अशेष बाल-जीवन के ऊपर विचार करते हैं—

जब डरपत सुनि-सुनि ए बातें कहूत हँसत बरुवाळ ।
 सप्त रसातल घोषासन रहे, तब की सुरत भुलाळ ॥
 भारि बेद से गयो सखासुर, जल में रहे मुकाळ ।
 भीम रूप धरि कै जब मार्यो तबहि रहे कहाँ हाळ ॥
 मयि समुद्र सुर असुरन के हित, मन्दर जलधि धँसाळ ।
 कमठ रूप धरि धरनि पीठ पर, मुक्त पायो सहि राळ ॥
 जब हिरनाक्ष युद्ध अभिलाख्यो, मनमें अति गरबाळ ।
 धरि बाराह रूप रिपु मार्यो, नै छिति दंत अगाळ ॥
 विकट रूप अवतार धर्यो, जब सो प्रह्लादहि नाळ ।
 धरि नृसिंह जब असुर विदार्यो, वहाँ न देख्यो हाळ ॥
 वामन रूप धर्यो बलि छलिकेँ, तीन पैंड बभुभाळ ।
 क्षम जल ब्रह्म कमबनु राख्यो दरस धरन परसाळ ॥
 मार्यो मुनि बिम ही अपराधहि, कामधेनु सँ भाळ ।
 इकडस बार निछत्र जब कीनी, तहाँ न देखे हाळ ॥
 सूर्पनखा तारिका सँहारी सर वूसन त्रिसिराळ ।
 सिंधु सेतु बाँध्यो पपान सों, तहाँ न बेसे हाळ ॥
 राम रूप रावन जब मार्यो, वस सिर बीस भुजाळ ।
 लङ्का जराय छार जब कीनी, तहाँ न देखे हाळ ॥
 नृपति भीम सों युद्ध परम्पर, तहाँ वह भाव बताळ ।
 तुरत चीर द्वी दूक कियो धरि ऐसे त्रिभुवन राळ ॥
 यमुना के तट धेनु चरावत तहाँ सपन बम भ्राळ ।
 पठि पताल व्याल गहि नाख्यो तहाँ न देखे हाळ ॥
 भाटी के भित बवन बिगार्यो, जब जमनी डरपाळ ।
 मुक्त भीतर त्रैलोक दिखायो, तबत प्रतीत न अँढ ॥
 भक्त हेतु अवतार धरे सब

बलराम फिर श्रीकृष्ण की असीमिकता की ओर संकेत करते हैं । श्रीकृष्ण बाँध दिये गये हैं । उस समय बलरामजी का कवन देखिये—

“निरखि स्याम हलधर मुसुकाने ।

को बांधे को छोरे इनको, यह महिमा एई पै जानें ॥

उत्पति प्रलय करत हैं एई, सेय सहस मुख मुनस बखारन ।

फिर लिखा है—

निगम स्वरूप देखि गाकुल हरि,

जाको वरस ब्रह्म देवन को ।

सौ बाँध्यों यमुदा ऊखल धरि ॥

+ + +

क्षीर समुद्र सयन सतत जेहि ।

माणस दूध पतोली दे भरि ॥

भक्त के बध होने के कारण अनन्त के सान्ध रूप हो जाने से जो विपमता दोख पड़ती है, उसे भक्त अपार अनुकम्पा समझ कर उसी पर अत्यन्त विमुग्ध और छट्पट हो जाता है । इसी भक्त की भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने इस ‘विपमता’ को कई स्थानों पर दिखाया है और उस पर मुग्ध हुए हैं । सौन्दर्य रूप से तुलना करने के लिए अलौकिक रूप दिखाना पड़ा है । यही विराट रूप सेपछामी विष्णु का स्वरूप है । इसी विपमता के लिए सूरदासजी लिखते हैं—

जवन विरिधि विषेय सुकृत ब्रजवासिन के ।

धी हरि जिनके भेय सुकृत ब्रजवासिन के ॥

ज्योति रूप जगनाथ जगत-गुरु, जगत पिता जगदीश ।

भोग यज्ञ जप तप में मुलभ, यापन गोकुल ईश ॥

इक इक रोम विराज कोटि, तनु कोटि कोटि बहुरंग ।

सो छीनों अबाधक यद्योवा, अपने भरि भुजदण्ड ॥

आके उदर लोक भय जल-मल, पथ तब चौकामि ।

सो बारक हूँ भूलत पसना, यमुमत भवनहि धनि ॥

धिति भिति विपद करी कहनामय बलि छलि दियो पतार ।

देहरि उसंगि सकत नहि सो अब, खेलत नद-दुआर ॥

अनुबिन मुरखद पंथ सुमारस चितामनि मुरे धेनु ।

सो तजि यशुमति को पय पीवत, भक्तन के सुख डेनु ॥
 रवि ससि कोटि कला अवलोकत, त्रिबिध ताप छप जाइ ।
 सो अञ्जन करसै सुत कहि अपु, अजित यशुमति माइ ॥

*

*

*

गोवर्धन धारण के समय श्रीकृष्ण की इस प्रकार प्रार्थना की गयी है —

अय माधव गौर्विन्द मुकुन्द हरि ।
 कृपासिन्धु कस्मान कंस हरि ॥
 प्रमत्तपाल केशव कमलापति ।
 कृष्ण कमल मोहन अनाय रति ॥
 श्री रामचन्द्र राजीव नैन बर ।
 सरन साधु श्रीपति सारंग धर ॥
 वनमाली बिटठर दामन बर—

उपर्युक्त सभी नाम बिष्णु के हैं। सुरदासजी ने फिर बलराम को हँसने का अवसर दिया। गोवर्धन उठा चुके हैं मछोदा पुत्र प्रेम बर श्रीकृष्ण की मुझासों को दाब रही हैं। वह समझती हैं कि इतना विद्याल पहाड़ उठाये रहने से बाँह में पीका होती होगी, परन्तु बलराम हँसते हैं —

ठाढ़े देखि हँसत बलराम ।
 चौपह भुवन उदर में जाके,
 गिरिवर धर्यौ बहुत यह काम ॥ *

भसा, वह कोई बात भी हो कि मछोदा घबड़ा रहें हैं—अरे—
 "कोटि ब्रह्माण्ड रोम रोमनि प्रति, अहाँ-तहाँ निशि बासर धाम ।"
 फिर भी बड़ा आश्चर्य यह है कि—

जोइ भावत सोइ देखि भक्त हँ, कहत करै हरि कंस काम ॥

अरे ! ये अयोध क्या जानें—इन्हीं कृष्ण ने—

भानि कमल ब्रह्मा प्रगटाये, देखि जलानंद तज्यो ब्रियाम ।
 भावत जात भीष ही भटनयो, बुझित भयो लोचन निज धाम ॥

घोर आश्चर्य है—

तिनसो कहत सकल राजवासी

कैसे कर राख्यो गिरि स्थाम,

इन अवतरणों से यह निर्विवाद परिलक्षित है कि श्रीकण्ठ अवतार वे विष्णु के अवतार थे। हम देख ही चुके हैं कि श्रीकण्ठ के अलौकिक कार्यों का तथा उनकी अलौकिक दया का जहाँ भी वर्णन किया गया है उसमें विष्णु के गुणों का आरोप है—परन्तु कहीं भी श्रीकण्ठ को विष्णु नाम से नहीं पुकारा गया। जहाँ कण्ठ के नामों की गिनती की गयी है, वहाँ भी 'विष्णु' नाम नहीं आया गया। गोविन्द, मुकुन्द, हरि, वामन, रामचन्द्र, विठ्ठल, केशव, माधव ये नाम तो लिये गये हैं परन्तु विष्णु नाम नहीं लिया गया।

फिर क्या गोविन्द, मुकुन्द, हरि आदि से किसी भीर का तात्पर्य समझा जाय ? नहीं। इसका निर्णय भी हो जाता है। हमारे यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। यदि कहीं कण्ठ का वर्णन करते समय शिव और ब्रह्मा का ही उल्लेख किया जाय विष्णु का वर्णन न हो तो यह मान लेना चाहिये कि कवि श्रीकण्ठ को ही विष्णु समझता है। इसमें कोई दोष भी नहीं। इसीलिए कई स्थलों पर ब्रह्मा और शिव का वर्णन किया गया है, विष्णु का नहीं। राम के रूप का वर्णन है—

भाजु भति कोपे हें रस राम ।

ब्रह्मादिक आरुढ़ विमानन देखें सुर संप्राम ॥

×

×

×

इन्द्र हँम्या हर हँस बिलसान्यो, जानि बचन सों मंग
यहाँ ब्रह्मा और शिव का उल्लेख है, इन्द्रपद एक का वर्णन है, परन्तु विष्णु का नहीं।

दिमकर किम्य उदित ब्रह्मादिक रुद्रादिक इक ठाढ़ें ।

यहाँ भी ब्रह्मा और रुद्र का उल्लेख है विष्णु का नहीं।

कर गहि पय धौगुठा मुख भेलत ।

×

×

×

सिध सोषत 'विधि' बुद्धि विधारत बट बाढ़्यौ सागर जल भेस्त ।

यहाँ शिव और ब्रह्मा का उल्लेख है विष्णु का नहीं ॥

“देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कप्यो इस विरीचि श्रमाई” ।

यहाँ भी केवल इस घीर विरीचि का ही वर्णन है ।

जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के पर्वों का वर्णन करते हुए लिखा गया —

“चरन कमल बन्धौ जगदीश, जे गोबन के सँग धाये” ।

× × × ×

‘जे पद कमल शम्भु चतुरानन

हृदय कमल अक्षर राखे ।

यहाँ भी केवल शम्भु और चतुरानन का ही उल्लेख है ।

जब ब्रह्मा का उल्लेख है शिव का उल्लेख है तो बिष्णु कौन हैं ? क्या सूरदासजी नहीं जानते थे ? यह कभी सम्भव नहीं कि पुराण-शास्त्रों में पारंगत सूरदासजी बिष्णु से परिचित न हों । अतएव फिर उन्होंने बिष्णु का उल्लेख क्यों नहीं किया ? फलतः इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वही अलौकिक कृष्ण बिष्णु हैं । इसलिए त्रिमूर्ति में कृष्ण के समक्ष ब्रह्मा और शिव का ही नाम लिया गया है । अतः सूरदासजी कृष्ण को बिष्णु का अवतार मानते थे ।

‘सूरदास के नयन’

भारतीय कला में आनुपातिक साम्य (Proportionate symmetry) का उतना महत्त्व नहीं जितना आन्तरिक सौन्दर्य (Internal grace) का । कला की वस्तु में भाव का जो रूप बिशेष आकर्षक होता है वही उसके आयास-बिन्द्यास का ध्यान बिना रख प्रकट किया जाता है । ससार के सौन्दर्यानुष्ठीमन से यह बात स्पष्ट विदित होगी । रूप-संगीत (Formal rhythm) में सौन्दर्य तभी आता है जब उसका आधार-पट विरूप और विकृत हो । उसकी मधुरता का भाव क्या कभी सौन्दर्यशील हो सकता था यदि मीठाकाश में पल-पल परिवर्तनशील रंग और प्रकाश उस में एक नबी-मेघ न भर देता ! यदि सभी घुसा में हर कलौ हर टहनी और हर पत्ते के स्थान पर गुलाब अथवा कमल हो उगता तो उसे हम सुन्दर कह सकते इसमें सन्देह है । भारतीय दृष्टा मनुष्य की आकृति और उसकी सुन्दरता देखते हैं किन्तु जब वे आत्मिक सौन्दर्य को देखते हैं तो आकृति की गठन और रूप रेखा का सौन्दर्य उनके सामने विकृति में परिवर्तित हो जाता है । वे उस भाव के बिशेष तत्वों को सूक्ष्मता और पूर्णता से अभिव्यक्त करने में लग जाते हैं, जिससे पारिधेय सत्त्व मन्द हो जाते हैं ।

भारतीय कला ने इस स्वभाव का रूप इस उदाहरण से भली भाँति समझा जा सकता है । द्रोणाचार्यजी पाण्डव तथा कौरवों की परीक्षा लेने बन में गये । एक ऋद्धिया एक टहनी पर रक्त दी गयी । पाण्डवों में से एक धनुषसंघाम कर आगे बढ़ा । आचार्य ने पूछा—तुम ऋद्धिया की ओर, उसके पर पैर और हमें देखते हो ? उत्तर मिला—हां ! उसे हट जाने के लिए कहा गया । सबके अनुत्तीर्ण हो जाने पर अर्जुन आगे बढ़े । उनसे भी वही प्रश्न पूछा गया । अर्जुन ने कहा—मैं दाँत की उस पुतली

के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता । न पसी का घड़, न घुल, न पास बढ़े आचार्य । वही अमीष्ट आँख दिखायी देती है—और इस एकाग्र दृष्टि से उस छोटी पुतली का आकार और रूप अवश्य बढ़ित हो गया होगा—सूरदासजी के 'नयन' में भी इसी तूलिका से रंग भरा गया है । उनके नयनों में वे सारे लक्षण आ जाते हैं जो मनुष्य में हैं । उनके नेत्र अपनी कायिक-सीमा का अनुसंधान कर मामल-स्वभाव के धर्म में वर्णित हो गये हैं । सूरदासजी के नयनों में कमल का सा सौन्दर्य नहीं । उनमें मधुरी, सखन मृग जैसे उपमानों की अगतिक (Static) समता नहीं । सौन्दर्य में जो धमनियों में बिद्युत्-स्फूर्ति उत्पन्न करने वाली महागति है उसी गत्यात्मकशक्ति (Dynamic force) से सूरदास के नेत्रों का सृजन हुआ है ।

इसलिए नेत्रों का अस्तित्व ही शरीर में एक प्रबल आकर्षण बन गया है । नेत्र हैं उनके साधन हैं और उन नेत्रों की करसूतों को देखने वाला—उन पर खीजने और झींकने वाला भी कोई है—उसका नाम गोपी रख सकते हैं । फिर एक और भी है वह है इच्छा । 'नयन' का वास्तविक रूप इस चतुर्विध ध्येय से ही समझा जा सकता है । नयन के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण अद्वितीयपरक (Subjective) नहीं विषयपरक (Objective) हो गया है । मन अर्द्ध विषयीपरक (Semi Subjective) है इसलिए नहीं कि उसमें विषय परक (Objective) तत्व आ गया है वस्तुतः मन में विषयपरक (Objective) तत्व नहीं आ पाया । वह अद्वितीयपरक (Semi-Subjective) इसलिए है कि विषयीपरक (Subjective) तत्वों में से स्वानुभूति के तत्वों की 'मन' में कमी है ।

मन ने नेत्रों को ठगा है—सूरदासजी कहते हैं—

'मन के भेद नैन गये माई'

सुनहु सखी मन के ठग ऐसे ऐसी बुद्धिउपाई

'सूर' क्याम सोपन वस कीन्हें रूप ठगौरी लाई

फिर—'मन से ये अति डीठ भये ।

बहु तो आइ खोलने बजहूँ ये जु गए सु गए ।

और भी —

'नैना भये बजाइ गुलाम

मन बेच्यो लै वस्तु हमारी सुनहु सखी ये काम ।'

इन अवतरणों में मन और नेत्रों के सम्बन्ध की कुछ मर्यादा है । मन भेद डालने वाला है उसने नयनों को श्याम को बेध दिया है, अथवा उनके अधीन कर दिया है । 'नयन' और 'मन' के अन्वयों में अन्तर है । नेत्र एक बार चले गये मन उन्हें ले गया । नेत्रों को कवि मानता है कि उनका स्वभाव हठी है वे एक बार जहाँ लग गये फिर वे सौटना नहीं जानते । किन्तु उनमें स्वगति तथा स्वानुमति नहीं । (Objective) विषयपरक रूप में ही नेत्र ऐसे हो सकते हैं । किन्तु इनकी विषयपरकता (Objectivity) 'दामों की विषयपरकता (Objectivity) से बिल्कुल भिन्न है । पदार्थों की तरह इनमें गति और अनुमति नहीं किन्तु चेतना है । हाँ मूर्त सौन्दर्य का इनमें अभाव है और यही एक बात है जो सुरदास के नयनों को विशेषतः विषयपरक वर्ग में रखती है । मन में गति भी है और चेतना भी मूर्त-सौन्दर्य नहीं इस दृष्टि से वह विषयपरक (Objective) नहीं किन्तु विषयीपरकता (Subjectivity) की कुछ झलक लिए हुए है । गति और चेतना के कारण । हाँ स्वानुमति का अभाव इसे पूर्ण विषयीपरक (Subjective) होने से रोकता है । वास्तव में विषयपरकता और विषयीपरकता की दृष्टि से हम सुरदास की वस्तु नहीं देख सकते । हाँ इससे इतना समझ सकते हैं कि एक नया दृष्टिकोण सुरदास ने उपस्थित किया है जिसका श्रेणी-विभाजन समालोचना-शास्त्र में अभी अपेक्षित है ।

सुरदास का यह पद देखने योग्य है—
नैन भये हरि ही के री ।

जब ते गये फेरि नहि बितये ऐसे गुण इन के री ॥१॥
और सुनी उनके गुण सजनी सोळ तुमहि सुनाउँ री ।

मोसों कहत तुहँ नहि आवै सुनत अर्षभी पाउँ री ॥२॥
मन भयो डीट इनहि के कोन्हें ऐसे सीम हमारी री ।

सुरदास हमहि पस्याने बाखिर बड़े भिक्वामी री ॥३॥
नेत्र दृष्टि के हो गये मन भी हो गया, नेत्र में और मन में

जमकी छत्रि भी समा गयी* किन्तु—
यह पद—हमहुँ श्याम को प्यारे
किन्तु—सुनहु सुर सख ब्यापुख बोलै, नैन हुरत फल पावै ।

आत्म-साक्षात् नहीं हुआ। यही अभाव सारी पीड़ा का मूल है—इसमें उस चतुष्टय का स्पष्ट आभास मिलता है—नैन हैं ही, हरि के चे हो ही गये, मन भयो डीठ,—मम का भी एक पृथक् अस्तित्व है—और फिर 'मोसों कहत तुहू नहि आवे'—में 'मो' वही गोपी है। यह चतुष्टय तो ऐसा है जिसका कुछ न कुछ रूप सूरदास के काव्य में प्रकट होता है। पाँचवाँ व्यक्ति और है, और वह सखी है अथवा उदब है—सखी का समाहार गोपी में ही हो सकता है, उदर उदब का दृष्टान्त में। यह समाहार की समस्या एक पृथक् समस्या है। मनोविज्ञान की दृष्टि से शिकायत करने वाली और शिकायत सुनने वाली एक हो गयी है, उसी प्रकार शिकायत के शिकारों का समाहार हो गया है। इस चतुष्टय में 'गोपी' का रूप समझना आवश्यक है। नयन और 'गोपी' का एक कुटुम्ब सा है इसमें गोपी अपना कुछ विशेषाधिकार सनझती है। उनका स्वान पिता-माता के समान है—विशेषकर नयनों पर तो वे ऐसा ही अधिकार दिसाती हैं। वे सखी कहती हैं ?

‘नैना ऐसे हैं जिसबासी ।

आन काज कोने हमको तजि सबसे भए निरासी ।

प्रतिपालन करि बड़े कराये जानि आपनों रंग’

+ + +

नैना भये प्रगट ही चरे ।

ताको कछु उपकार न मानत हम ये किये बड़े रे ।

गोपी 'नयनों' की पालक है। उन्हें 'नयनों' से शिकायत है वे पराम हो गये हैं वे विस्वासघाती हैं। वे 'गोपी' के कृतज्ञ नहीं। वह रोकती है, नयन भाग-भाग कर उभर हो आते हैं। उससे गोपियों को फुसलाते हैं —

मो सों कहत तुहू नहि आवे सुमत जन्मो पाऊँ

आदर्श की बात है छीटपन की हवा हो गयी है। बिन नेत्रों को गोपी से भयभीत रहना चाहिए उनका आतंक मानना चाहिये वे इतने घृष्ट और मुहल्लम होगये हैं—मम भी साव छोड़ गया है। साव नहीं छोड़ गया, यह सब सखी की करतूत है—

‘कियो वह भेद मन और नाहीं

मन बेच्यी सै वस्तु हमारी सुनहु सखी ये कान’

गोपी जब इतना 'नयन' और 'मन' को भस्मना कर रही है
तब वह धीरे-धीरे अज्ञात रूप से स्वयं कृष्ण पर रीझी जा रही है।
उसकी रुचि में पहले तो नेत्रों के प्रति कुछ विरोध सका होता है।
उन्हें चोर निर्दग्ध स्वार्थी कहा गया है—नेत्रों को भिक्कारा
गया है।

मेरे नैना ई अति धीठ

में कुल कान किये रखति ही ये हठि होत बर्छाठ ।

कहा गए जो आप स्वारथी नैनन अपनी निनंछ कराई
जो यह सुनत कहत सोइ धुग धुत तुरतहि ऐसी भई बड़ाई ।
किंतु फिर क्या हो जाता है कि वह यह कह उठती है—
हैं ता दिन बजरा देखों,

जा दिन मन्द मन्दन के नैनन अपने नैन मिलैहों ।

सुनरी सखी यहै जिय मेरे मूलमि और चितैहों ।

बब हठ 'सूर' इहै बत मेरो राखँ मरि बँही ।

गोपी स्वयं कृष्ण की और झुक गयी ।

नयन अब तक बघ में थे, कृष्ण को देखते ही पराये हो गये
बुष्ट हो गये, उद्बुद्ध हो गये । गोपी का सम्बन्ध इन नेत्रों के प्रति
किसी अपने अभिभावक की भाँति है । अभिभावक पहले अपने
बासक को ताड़ता है रोकता है, फिर अपना भाग्य ठोकता है और
उसकी बुरी बसा को कया बूसरों को सुनाता है । फिर उस पर
सहानुभूति करने लगता है । फिर स्वयं भी उनके साथ उसी मार्ग
में कुछ झुक जाता है ।

गोपी में सके साथ कुलकानि का भाव मर्यादा और धर्म
निष्ठा का भाव भी है । नेत्रों के प्रति इतनी झुंझसाहट का कारण
यही है कि वे कुछ राज को घटा बता कर कृष्ण से जा मिले हैं
उनके पीछे-पीछे सने फिरते हैं ।

गोपी अपनी सफाई भी देती है । वे नेत्रों के अपराध से
अपने को मुक्त समझती हैं । वे कहती हैं—

ब्रज पर पर यह बानी

हमहूँ को अपराध स्मावहि एऊ भई दियानी ।

सोधन बपल चार खंजन मम रजम हृदय हमारो ॥
 सुरग कमल मीन मनोहर स्वेत अरुन और कारो ।
 रत्न अङ्कित कुण्डल यवणन वर गढ कपोलनि माई ॥
 मनु दिनकर प्रतिविव मुकुर महि बूँदत यह छवि पाई ।
 मुरली अघर विकट माई करि ठाढ़ी होत त्रिभंग ।
 मुक्तमाल उर मील शिखर से बंसी बरणि जनु गग ।
 और वैसे को कहै वरणि सब धँग-धँग केसरि खौर ।
 देखे बने कहत रसना सौं 'सूर' बिसोफत और ।

यह रूप वास्तव में एक समय और लभ का देखा हुआ नहीं । गोपी-मति ने जब एक वृष्ण के जितने रूप देखे हैं उन सबके संस्मरणों से यहाँ एक मिथ-रूप उपस्थित कर दिया है । किन्तु वृष्ण के रूप के साथ उसके स्वामाविक क्रिया चित्र में कहीं अधिक सौम्यता है ।

‘बारक वह मुख फेरि बिखाबहु दुहि पय पियत पतूखी’

‘दौने में वृष्य दुह कर पीते हुए वृष्ण का वर्धन’—यिसकी कल्पना सूर की कल्पना के साथ उड़ कर इस सक्रिय चित्र की रेखाओं को सजीव बना सकती है वह उस सौम्यता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकती । पहले पद में जो खड़ीला राजसी सौन्दर्य अंकित किया गया है उसमें ‘अग्रा मक्ति’ के अमर्यादित प्रेम के साथ यौवनोद्दाम भावना का रूप है, उसका सात्विक रूप जो मूल की तरह उस राजसी भाव की अभिव्यक्ति को उत्तेजित कर सका है वह इन्हीं पंक्तियों में है—

‘बारक वह मुख फेरि बिखाबहु दुहि पय पियत पतूखी’

‘गोपी के रूप में हमें मर्यादा और अमर्यादा का घोर द्वन्द्व मिलता है । अमर्यादा की विजय होती है । निरपेक्ष अमर्यादा भोक्-हित साधक नहीं हो सकती—फिर प्रेम की मर्यादा तो सृष्टि को महा बिडुत करने वाली है । वह वृष्ण की अपेक्षा पाप का पूजन अधिक करती है । यदि सुरदास में केवल वह राजसी-सौन्दर्य लिप्सा की ऐन्द्रिकता होती तो प्रेम की सात्विकता समझना कठिन हो जाता किन्तु उस ऐन्द्रिकता का सात्विक रूप कितना मनाहूर है और कितना मूल में सात्विक है जब हम यह जान लेते हैं तो आश्चर्य

मूर्तहि ये इम्री मन गिळि कै, त्रिभुवन नाम हमारी ।

‘सूर’ वहाँ हरि रह्य कह्य हम, यह काहे न बिभारी ।

अतः गोपी मनुष्य की वह मनस्भावना है जो सोकाधार और मर्यादा तथा सज्जा से ञकड़ी हुई है और मर्यादाकृद् (Conservative) मति का रूप उपस्थित करती है । मर्यादा और अमर्यादा का संघर्ष ही नयनों में समाहित है । मर्यादाकृद् मति एक स्वामाबिक प्रेमोत्साह से कृष्य की ओर आकर्षित हो गयी है—उसमें अमर्यादा की ओर कुछ प्रवृत्ति हो गयी है । सूरदास अमर्यादित प्रेम के पोषक हैं । वे जिस मन की भर्त्सना कर रहे हैं जिन नयनों को डाँट रहे हैं वह सब व्यर्थ है । साधारण संसार मन को अत्यन्त संवत्स समझता है । इन्द्रियों को अत्यन्त व्यसनशील । यह समझ जाता है कि ये नीचे की ओर ही जाते हैं । किन्तु प्रेम प्रेरणा में सूर की दृष्टि में ओर ही बात उपस्थित हो गयी है । उनकी चंचलता तो प्रकट ही है कि वे मर्यादित पति का साथ छोड़ गये और अमर्यादित प्रेम के प्रतीक श्रीकृष्ण से आ सगे । इन्द्रियाँ भी उधर लग गयीं—अतः संसार इन्हें निषेध कहेगा ही । गोपी इसी ‘संसार’ के शब्दों में अपनी मर्यादित-मति का परिचय दे रही है—पर उसकी विवशता कुछ और भी प्रकट करती है । वह विवश है । नयन पामल हो गये हैं वे रोके नहीं सकते—इस प्रकार गोपी अपनी विवशता से अमर्यादित प्रेम की महत्ता प्रकट करती है । वह स्वोद्भूत प्रेम है और वही जीवनलाम का सच्चा अर्थ है । ‘नयन’ इसी प्रेम के अनिकल-सौन्दर्य की अनुभूति कराते हैं । उनके इसी सौन्दर्य का साक्षात्कार यहाँ है । पर वह सौन्दर्य संघर्ष के आधार-पट पर है । सूर और असुरों का संघर्ष सदा रहा है । वह संघर्ष ही जीवन की ‘रगिनी का मूल स्वर है । वहाँ सौन्दर्य (Aesthetic) और आचार (Ethics) की समस्याएँ उपस्थित होती हैं । पहले ‘नयनों’ की आचार-नीति (Ethics) ही लीजिए ।

सूरदासजी भली प्रकार जानते हैं कि जिसके द्वारा किसी व्यक्ति का पालन-पोषण हुआ है, उसके विपरीत आचरण बिश्वासपात्र है, उसके विरुद्ध किसी में विघ्नेय मोह पैदा कर लेना भी बुरा है । स्वार्थी होना, सोक सज्जा त्याग कर धुष्ट होना, सोम करना, इतराना दयाहीन होना किसी के रूप की ओर एक टक देखना, रससम्पट होना, गुहजनों का सक्रोध न होना, आर्य-वध त्याग देना,

यह सब अनैतिक (Immoral) है। लोक में यह सब अबांछनीय है। किन्तु अमर्यादित प्रेम में यही सब बातें प्राण्य और अनुकरणीय हैं। इसलिये नहीं कि Everything is fair in Love and War' बरन् इसलिये कि (Sammum Bonum) जीवन-सत्य की प्रेरणा से ही नीति और अनैतिह का निरूपण होता है। गोपी की विवेचना में हम देख चुके हैं कि उसमें मर्यादित-मति की झलक है। वह लौकिक दृष्टि से नेत्रों की गति-विधियों का विरोध करती है, किन्तु अन्त में स्वयं उसी पक्ष का अनुसरण करने लगती है। उस प्रेम-भाग में मर्यादा-मति अथवा लोक-निबन्ध हार मान कर चलने लगता है। वह भी में उसी व्रत में दीक्षित हो जाती है। लोक और धर्म के संघर्ष में धर्म की अमर्यादित प्रेम मति की विजय गोपी को तब अनुभव होती है, जब कृष्ण गोकुल से चले जाते हैं। अभाव में ही मृत्यु का पता चलता है। नेत्रों के चकोर, मुक्त जैसे व्रत और हठ ने गोपियों को जैसे ही कुछ झुका दिया है, किन्तु अब जब कृष्ण भी नहीं तो उनके हृदय भी रिक्त-से हृकपुर्ण लगते हैं, तब तो उन्हें नेत्रों से संबेदना और सहानुभूति में कोई कमी नहीं रहती। जब उड़ब आते हैं तब वह नेत्रों की कल्प-वशा क बड़ा दीन चित्र उपस्थित करती हैं उनकी सिफारिश करती हैं-

अधिया हरिवरसन की भूकी,
कैसे रहें रूप रस रांची, ए बतियाँ सुनि कसी।

×

×

बारक वह मुख फेरि दिखावहु इहि पय पियत पतूबी।
जो प्रेम की आय नेत्रों में लगी है प्रेम के कारण जो हृक और विकसता उनमें पैदा हुई है, उसका यदि आकर्षण कृष्ण में न होता तो सुफियों के प्रेम के समकक्ष हो जाता। किन्तु नेत्रों के आधार का जीवन-सत्य (Sammum Bonum) केवल प्रेम नहीं जिसमें प्रेम पात्र के लिए ही प्रेम-प्रेरणा है, जहाँ प्रेम प्रेरणा और प्रेम ही अभीष्ट है। इनके मयनों के आधारों में स्वाभाविक प्रेम प्रेरणा है, किन्तु चरम पुरुषार्थ 'कृष्ण दर्शन' है।

'कृष्ण दर्शन' में ऐन्द्रिकता का मूर्त आधार बिल्कुल स्पष्ट है-
नीमन उहै रूप जो देख्यो।

तो कधी यह जीवन जग को साँपहु सकस करि सेवो।

हृदय उत्ससित हो जाता है और कृष्ण की साकार मूर्ति हमें प्रेम
 मद्गद कर देती है। इस प्रकार के चरम पुरुषार्थ के कारण ही
 अमर्यादा और अनीतियाँ इसाध्य हो जाती हैं। (Ethics) अथवा
 आचार का प्रश्न, नीति और अनिति का प्रश्न जीवन के ध्येय से
 सम्बन्ध है। कृष्ण के पोखे आध्यात्मिक मूर्ति और धार्मिक साह-
 चर्य के साथ ऐन्द्रिक-सौन्दर्य है—वह महान् ध्येय है—उसके
 लिए अन्यतम त्याग और सगम की आवश्यकता है। उसमें न
 केवल मन लगना चाहिए बल्कि सारी इन्द्रियाँ अपने अपर विषयों
 को छोड़ उसी में तमय हो जायें, उसी की मनोरमता में निविष्य
 हो जायें तब जीवन-साम की प्राप्ति हो सकती है। उठते-बैठते,
 साते-पीते यदि वही कृष्ण और उसका रूप सामने है तभी धार्मिक
 प्रक्रियाओं की पूर्ति हो सकती है, तभी जीवन के सारे आयोजनों
 की सफलता है। गोपी और उसके नयनों के आचार (Ethics)
 का यही मर्म है। जिस संचर्य ने आचार की सुन्दरता प्रकट की
 है वह नयनों के सौन्दर्य को निस्तारता है। कृष्ण का मूत और
 पूर्व रूप सूरदास ने अवश्य रक्ता है, किन्तु नयनों का उन नयनों
 का जिनका चित्र नहीं चरित्रांकन किया गया है कुछ भी परिचय
 नहीं। उन्हें 'काबू' अवश्य प्रिय है क्योंकि उसी का लालच उन्हें
 दिया गया है। फिर वे लज्जन, भीन कमल भृग के से हैं अथवा
 कैसे हैं यह कुछ विदित नहीं। होंगे ऐसे ही। किन्तु उनका अन्त
 रम सौन्दर्य हमारे सामने अपने अनिर्वचनीय रंग से उपस्थित है।
 वे हिमाचल की तरह अटल, नवीन से कोमल कोकिल की पंचम
 से कूकपूर्ण, उषा की मुस्कराहट से सिंछे हुए—किन्तु जन
 की एक अगाध अतृप्त तुष्णा से सन्निहित—रात्रि दिन के संचर्य
 से-सावन के ऋतु से—हाला से मादक। तुष्णा अतृप्ति, राहक
 एक चिरन्तन मति और अगाध पीडा में जो सौन्दर्य है, वह इन
 नयनों में है। जिसे नयनों का सा हृदय मिला जाय वह क्या
 ले जाय ?

सूर और तुलसी

“कवन की विशेषता”

तुलसी-सूर की तुलना होती ही रहती है। एक कहता है —
सूर-सूर तुलसी छापी—

दूसरा ‘तुलसी’ को नवरत्न में सबसे पहला स्थान देता है।
कोई केवल इतना ही कह देता है—
तुलसी गंग पुबी भए, सुकविन के सरदार।

इसमें कोई संदेह नहीं कि तुलना करना बड़ा कठिन कार्य है। प्रत्येक कवि अपनी-अपनी प्रतिमा को लेकर आता है। निश्चय ही प्रत्येक की प्रतिमा में निराशापन होता है—मिलाने से नहीं करने में, किसी को बड़ा किसी को छोटा बताने में बड़ा आनन्द जाता है। वह जीवन का उत्कर्ष बड़े और छोटे सख्यों के द्वारा ही मापता है। संसार में यदि कोई शब्द महा अनिष्टकर है तो वे यही दो विशेषण हैं। मानव-वृद्धि से उत्पन्न इस तुलना की भावना न जाने कितनी अभ्यास-वृद्धि उत्पन्न कर देती है। देव और बिहारी में कौन बड़ा है? इस विवाद ने कभी कितना उग्र रूप धारण किया था, कितनों को बेजाने-बूझे दूसरों का दुश्मन बना दिया था? साहित्यिक विवाद वैयक्तिक संघर्ष हो गया। बिहारी को यदि छोटा समझ लिया जाय तो बिहारी के पृष्ठ पोपकों की नाकें मीची होगी देव को छोटा कह दिया जाय तो देव के हिमायतियों को मोचा देसना पड़ेगा। देव और बिहारी का कुछ नहीं बिगड़ता—वे तो जो हैं वही बने रहते हैं छोटे और बड़े तो उनके पक्षपातियों के मन के भूले हो जाते हैं—बात की बात होती है। अतः कवियों की तुलना भातक है। कवि एक

सृष्टा है वह अपना जगत रचता है । प्रत्येक का संसार भिन्न होता है । वह देखन ही योग्य, प्रशंसा करने योग्य, भुग्य होने योग्य होता है । उसकी परस्पर तुलना कही ? इस महाकाव्य में अनेको पिण्ड बिखरे पड़े हैं । कौन किसके ऊपर धीर किसके नीचे है ? ऊँचे-नीचे का भाव तो सापेक्ष है । कवि जिस अमौलिक आनन्द की सृष्टि करता है वह निरपेक्ष होता है । तुलसी धीर सूर जैसे कवियों के सम्बन्ध में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनकी कला निरपेक्ष है उनकी कसौटी उनकी मिजी है उन्होंने अपना रूप विस्तृष्ट अलग रखा है । दूसरे शब्दों में वे दोनों भिन्न जाति के हैं ।

तुलसी प्रबन्ध-काव्य लेखक हैं । सूर भुक्त लेखक हैं । सूर अपने काव्यावेग में मुक्त होकर एक ही विषय पर विविध पक्ष लिखते चले जाते हैं । वे इतने गहरे जाते हैं कि तह में डोलते दिखायी पड़ते हैं । पर विस्तार उतना नहीं । उनका क्षेत्र संकुचित है पर अगाध है । बार-बार उसी बात को कहते हैं, पर बड़े मजे से कहते हैं । पर तुलसी को इतना अवकाश नहीं । उन्हें प्रत्येक बात उचित मात्रा में ही कहनी है । उचित स्थान का भी ध्यान रखना है । स्वतंत्र काव्यावेग की धारा प्रबन्ध धीरे अनुबन्ध के वृक्षों में होकर बही है ।

सूर को पुनर्दत्त शृङ्गार में जो तृप्ति है उसे 'कथन की विशेषता' कहा गया है । तुलसी में नहीं इस कथन की विशेषता नहीं मिलती । यह वास्तव में ठीक ही है । सूर धीरे तुलसी के मन्त्रियों में स्पष्ट अन्तर है । सूरदासजी वर्णन करने बैठे । वे जितना वर्णन चाहें कर सकते हैं । तुलसी क्या कहने बैठे हैं । उनमें कथन की विशेषता अपेक्षित रूप में ही आ सकती है ।

यदि तुलसीदासजी राम के अयोध्या से लेकर लङ्का तक जाने के माग का ही वर्णन करते चले जाते तो विस्तृत अनावश्यक होता और एक ऐसा पोथा जो बालिदास के मेघदूत से नहीं बड़ा होता, बन कर तयार होता । उसमें भूगोल और जीव-जन्तु, वनस्पति स्त्री और पुरुषों का वर्णन होता । वह साहित्य की इतनी वस्तु न होता—जितना भूगोल शास्त्र की । ऐसी दशा में बहुत से स्थानों पर केवल इसी चीज में कह देना भर—

भागे चले बहुरि रमुराई ।

अप्यमूक पर्वत नियराई ॥

पर्याप्त होता है। मार्ग में स्त्री और पुरुष मिलते, पशु-पक्षी मिलते, रुताद्रुमादिक मिलते। इस पर राम का क्या प्रभाव पड़ता? प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से राम के व्यक्तित्व में ही सारी श्रेय दृष्टि का समावेश होना चाहिए। कल्पना का क्षेत्र राम के साथ ही रह सकता है। उससे पूरक होकर दूर जाकर वह प्रबन्ध की अनिष्टता को बिम्बित ही करेगा और अस्वाभाविक हो जायगा।

केशव भी सूर की भाँति मुक्त कवि ही हैं—इसका जय यह नहीं कि वे सूर की कोटि के हैं पर उन्हें भी मुक्त होकर अपनी कल्पना में ऊहापोह करना अच्छा लगता है। इसलिए उन्होंने 'रामचन्द्रिका' जैसे प्रबन्ध-काव्य में स्वान-स्वान पर बड़े विषद वर्णन किये हैं जो बहुत सी सुन्दर युक्तियों से परिपूर्ण हैं। यदि प्रबन्ध-काव्य में इन्हें न ठूँसा गया होता तो वे वर्णन बहुतों की दृष्टि में बहुत ही स्लावनीय होते। परन्तु यही वर्णन बिषदता अपना कथन की विशेषता प्रबन्ध-काव्य की अनिष्टता को बिरल कर रही है। ऐसी कथन की विशेषता तुलसीदासजी में नहीं मिल सकती। वे राम से दूर नहीं जा सकते। फिर, मार्ग की बड़ बेतन वस्तुओं पर राम का क्या प्रभाव पड़ा—जब उसका प्रदर्शन भसी प्रकार कथन की विशेषता के साथ कई स्थानों पर दिखा चुके, तो फिर 'आगे बसे बहुरि रमुराई अप्यमूक पर्वत नियराई।' जैसे कथन में कोई दोष नहीं। ऐसे स्वप्नों पर कथन की विशेषता कितनी ही आकषक क्यों न हों, स्लावनीय नहीं हो सकती।

जब हनुमानजी रावण के समक्ष पकड़ कर ले आये गये तब उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया—

सुमु रावन ब्रह्माण्ड निकाया । पाइ जासु बल बिरचत माया ॥
 जाके बल बिरंषि हरि ईशा । पालत सृजत हमत बससीसा ॥
 जो बल दीध धरत सहस्रागन । अण्डकोस समेत गिरिकानन ॥
 धरे जो विविध वेह सुरनाता । मुन्ह से छठह सिखावन दाता ॥
 हरकोदण्ड बठिन जेहि भँजा । ताहि समेत नृप-बल-भद गंजा ॥
 सरदूपण निसरा बर बाली । बघे सकल अतुलित-बल-साली ॥

जाके बल लपलप ते, जितेहु जरापर मारि ।

तामु दूत में जागरि हरि आनेहु प्रिय नारि ॥

इसमें यह कहा जा सकता है कि कथन की विशेषता है। यही बात यदि हनुमानजी भी अङ्गुष्ठ की तरह यों कह देते—

“मैं रघुवीर वृत्त दशकंधर” का काम तो थल जाता पर कथन में विशेषता न आती। भगवत् के कथन में जैसे छद्म का मारा गया है, हनुमान का कथन विशेषता युक्त है। कथन की विशेषता के यदि यह अर्थ समझे जायें कि जहाँ आवश्यक होने पर किसी बात को सूत्र विचार के साथ बना कर कहा जाय तो तुलसी में भी यह विशेषता पूरी तरह है। वह सूत्र का ही आवश्यक गुण नहीं कहा जा सकता पर ऐसा है नहीं। कथन की विशेषता का तात्पर्य है किसी वस्तु का ऐसा वर्णन जो केवल वर्णन करने के लिए ही विस्तार और ऊहा से किया जाय। उस विषय में जितना ही उद्घाटन जा सके जितने गहरे पैठा जा सके उतने पैठा जाय और वर्णन इतना पूर्ण कर दिया जाय कि फिर कल्पना की उद्घाटन के लिए और ऊँचाई छेप ही न रह जाय। वर्णन के लिए वर्णन यह प्रबन्ध काव्य में हो नहीं सकता। तुलसी के हनुमान द्वारा राम के इन सम्बन्धों में जो चम्पों में गुणानुवाद केवल वर्णन-प्रियता के कारण नहीं हुआ। यह इसी रूप में होना घटना स्थिति के योग्य था। हनुमान रावण के सामने पकड़ कर लाये गये हैं। रावण को हनुमान के जाने की संका तक नहीं थी। हनुमान ने जो हानि कर डाली थी वह भी बसाधारण थी। उनके मुख पर भी घृष्टता सेल रही थी। बाकिर इस बरा से बन्दर में इतना हिमाव क्यों? यह प्रश्न रावण के और समासदों के हृदय में है। हनुमान भी जानते हैं कि रावण पर रौब जमाना आवश्यक है। पहले बौ बनी धारणाएँ बहुत काम करती हैं इसीलिए उन्होंने राम का परिचय इन बड़े बड़े सच्यों में दिया। यह कवि की ऊहा मात्र नहीं, यह कथन आवश्यक था। रावण का राम को परिचय मिले, वह हनुमान का गुह्य समझे—इसीलिए हनुमान भी केवल सम्बोध वाहक थे, वे वृत्त भी नहीं थे। घृष्टता करने के कारण, बँदी की तरह रावण के सामने गये थे इस कारण भी उन्हें राम का प्रभुत्व पिसाना आवश्यक था। यही कथन की विशेषता नहीं।

उपर, अङ्गुष्ठ राम के वृत्त की तरह गया था। राम अब रावण के लिए कोई नयी वस्तु नहीं थे। वे संका पर चढ़ आये थे। हनुमान से उनकी दक्षिण का पदा रावण को पहले सग ही

गया था। फिर अङ्गद ने वरु अपना परिचय देने ही तो नहीं
 आये थे। उन्हें तो भारी काम सम्पादन करना था। ऐसी दशा
 में राम का परिचय बहुत से शब्दों में देना अनावश्यक ही था। वो
 शब्दों में उन्होंने अपने व्रतत्व का परिचय दे दिया—‘मम जन
 व्रत वसकन्धर’ और अपना व्रतत्व आरम्भ कर दिया। ‘मम जन
 कहि तोहि रहिमिठाई’ यहां से वे अपना व्रत-कार्य सम्पादन करने लगे।
 अङ्गद की व्यवसायात्मिका बुद्धि का यह कैसा सुन्दर चित्रण है।
 यहाँ यदि अङ्गद भी हनुमान की तरह कहने लगता तो वह अङ्गद
 नहीं रहता। अङ्गद की व्यवसायात्मिका बुद्धि के कारण ही उसे
 व्रत बनाकर भेजा गया था। ऐसी बुद्धि और गाम्भीर्य हनुमान में
 कहाँ? अतः हनुमान और अङ्गद के कथनों के अन्तर से कथन
 की विधेयता को नहीं समझाया जा सकता। वास्तव में यह मुक्त
 वर्णन-शीलता सुलसी में नहीं। सुलसी की कला का आदर्श ही मु—
 नहीं उसका मार्ग कठिन मार्ग है—अनेकों समयों से घिरा हुआ।
 यादा-मार्ग। सूर का मार्ग मुक्त है और कहीं-कहीं उष्णक्षर भी

कला का मर्म

तुलसीदास की रचनाओं का जिसना गहन अध्ययन अभी तक किया गया है उतना सूरदास की रचनाओं का नहीं किया गया परन्तु जितना भी अध्ययन हुआ है। उससे यह सिद्ध होत है कि सूरदास एक महाकवि है। इन दोनों की शक्ति और महत्ता पर विचार करते हुये कुछ मोटे-मोटे अन्तर भी बतलाये गये हैं और इनकी समानता के ऊपर भी कभी-कभी प्रकाश डाला गया है।

यह कहा जाता है कि सूरदास कृष्ण के बालक-रूप के उपासक थे सीलाधाम की सीलाओं का जो सन्निध और सुभाषना रूप बाल्य-काल की भोसी और चटपटी कीड़ाओं में देला जा सकता है वह युवाकाल की बातों में नहीं देखा जा सकता। जाति को नैराश्य से उठाने के लिए मनोरंजक रूप की आवश्यकता थी सूरदास ने उसे दिलाया। वे मनोरंजक सीला-मय रूप के उपासक थे। उधर तुलसीदास ने लोक-व्यापार-व्यापी मञ्जुल-मय रूप दिखाया। उन्होंने परिष के आदर्श को सामने रक्ता। उन्होंने एक कसौटी बनायी जिस पर जीवन की परख हो सके। उन्होंने भी किसी सामयिक आवश्यकता की ही पूर्ति की है।

फिर, सूरदास ने कृष्ण के शृङ्गार का इतना उज्ज्वल वर्णन किया है कि यदि वे बाण्य सूरदास के सिखे में होते तो पाठक पढ़ने पर भी प्रयत्न करने पर भी उस में भक्ति में डूब पाते। सूरदास का शेष बहुत संकुचित है तथापि गहरा बहुत है। तुलसीदास की तरह सूरदास के काव्य में बहुमुखता नहीं पायी जाती।

सूर और तुलसी के उपास्य देवों में निःस्सन्देह बड़ा भारी अन्तर है । यह तो है ही कि एक कृष्ण-रूप के और एक राम-रूप के उपासक हैं साथ ही यह भी मानते हैं कि एक की भक्ति सत्ता भाव की है और दूसरे की दास भाव की । परन्तु उनके उपास्य देवों के स्वभाव में भी अन्तर है ।

सूरदास श्रीकृष्ण को निश्चित रूप से विष्णु का अवतार मानते हैं और उनका वह विष्णु सर्व शक्तिमत्ता से युक्त है । तुलसीदास के राम विष्णु के अवतार नहीं हैं ।

सूरदास ने कृष्ण के वर्णन के साथ जहाँ कहीं अन्य देवों का भी वर्णन किया है, वहाँ विष्णु के नाम का उल्लेख नहीं किया है । सूरदास लिखते हैं—‘धिब सोचत विधि बुद्धि बिभारत’ तथा ‘जे पद कमल सम्भु चतुरानन हृदय कमल अन्तर राखें । ऐसे प्रत्येक स्थल में इसी प्रकार केवल ‘सम्भु’ और ‘चतुरानन’ का ही वर्णन आया है, ‘हरि’ अथवा ‘विष्णु’ का उल्लेख नहीं किया गया है । अतः कृष्ण ही विष्णु ठहरते हैं । इसी प्रकार विष्णु के अवतारों के सभी रूपों के भी वर्णन हैं ।

उपर तुलसीदास ने राम को त्रिदेवों से पृथक् एक अद्भुत सत्ता माना है । तुलसीदास ने राम को ‘ब्रह्म परमार्थ रूपा, अविगत, असक्त अनादि अनूपा’ एवं ‘सकल विकार रहित गतभेद’ बतलाया है । सूरदास की तरह राम का वर्णन करते समय उन्होंने विष्णु की छोड़ नहीं दिया, तीनों देवताओं का एक साथ वर्णन किया है । इस प्रकार उन्होंने राम को इन तीनों के अतिरिक्त एक मिश्र शक्ति निश्चित किया है । उनके राम ‘ब्रह्म परमार्थ रूपा’, अविगत, असक्त, अनादि, अनूपा, सकल विकार रहित गतभेद’ हैं । वे शुद्ध ‘सच्चिदानन्द-मय’ हैं । वे ‘चराचर-नायक’ हैं ।

अपने पृष्टि-कोण को और भी स्पष्ट करते हुए तुलसीदास भी लिखते हैं—‘जगु पेखन तुम देखत हारे, विधि हरि दाम्भु नचबनिहारे’ । इस प्रकार उनके राम उस समाधि को देखने वाले हैं जिसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश करने वाले हैं । सूरदास ने कहीं भी ऐसा प्रयोग नहीं किया है । जहाँ उन्होंने ‘कृष्ण’ का नाम लिया है अथवा उनकी प्रशंसा की है, वहाँ उन्होंने निश्चय

हो विष्णु का उत्सेख नहीं किया ।

परन्तु तुलसी के मानस का एक म्यस बन्दर में डाल देता है । रामचन्द्र गङ्गा पार उतरने के लिये केवट से आग्रह करते हैं । तुलसीदास को यह बात विभिन्न लगती है वे कहते हैं—

बामु नाम सुमिरत एक बार । उत्तरहि नर भषसिषु अपार ॥

सोइ कपाल केवटहि निहोय । बेहि जगु किय तिहु पगहु तें दोरा ॥

अर्थात् जिसके नाम का उच्चारण-मात्रमवसागर जैसे महा भयङ्कर घोर मसीम सागर से पार कर देता है—वही राम बरा सी गङ्गा से उतरने को केवट की सुधामद कर रहे हैं । जिसने तीन पग में सारे ससार को वामनावतार में भाप लिया उसा राम से उसी ससार की एक मदी आज नहीं उठती जाती । उसके लिए वे केवट की सुधामद कर रहे हैं । कैंसा मद्गद कर बैठे बासा दुख है ? 'प्रभु' ने भक्त के रञ्जनार्थ कैंसा दीन रूप धारण किया है ? अनन्य भक्त तुलसीदास के हृदय के कौतूहल और उत्साह को इस स्थल पर उबलता हुआ कौन नहीं देख सकता ? तो क्या यह उनकी भक्ति-भावना ही उनके राम को वामनावतार में निरूपित कर गयी अथवा उनके समम में प्रचलित उपासनाविध का प्रभाव उस पर पड़ गया, क्योंकि वामनावतार विष्णु का अवतार था । परन्तु इसका निराकरण हो जाता है । उनका वह अनादि अरूप ब्रह्म 'भगवत् भूमि नृसुर' के लिए अवतार धारण करता है, उसमें किसी प्रकार भी विष्णु का आरोप नहीं हो सकता । जिस प्रकार तुलसीदास के 'राम' विष्णु नहीं ब्रह्म के अवतार हैं, उसी प्रकार उनका वामनावतार भी ब्रह्म का अवतार है ।

परन्तु उद्यमवत् निराकरण ठीक नहीं ठहरता है । तुलसीदास-जी लिखते हैं—

पदनस निरख देवसरि हरपी ।

मुनि प्रभु बचन मोह मति करपी ॥

देवसरि क्यों हणित हुई ? यह क्या है कि गङ्गा विष्णु के 'पदनस' से प्रसन्नित हुई । राम के चरणों में वही पितृ चरण-जल देख कर 'देवसरि' को प्रसन्नता हुई । तो क्या रामचन्द्र विष्णु

ये ? यहाँ तो अवतारवाद का तर्क भी नहीं जम सकता । विष्णु अपने रूप में कोई अवतार नहीं हैं । हाँ वे ब्रह्म के एक शक्ति प्रतीक हैं । दूसरे शब्दों में ब्रह्मा, विष्णु महेश ये तीनों ही कोई पूजक सत्ता रखने वाले देव नहीं हैं किन्तु उसी ब्रह्म की तीन भिन्न शक्तियों के प्रतीक मात्र हैं । अतएव ब्रह्म में ब्रह्मत्व भी हुआ हो रक्षयिता है उसी में विष्णुत्व है उसी में महेशत्व है ।

सम्भवतः इसी सम्बन्ध से उन चरणों को विष्णु का चरण समझ कर देवसरि प्रसन्न हुई । परन्तु इस कल्पना के अतिरिक्त और कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं है । फिर ऐसा सम्बन्ध केवल विष्णु से ही क्यों दिखाया गया है शम्भु से क्यों नहीं दिखाया गया है ? देवसरि का सम्बन्ध तो शम्भु से भी था और विरञ्चि से भी । तब यह पक्षपात क्यों ? यहाँ न सही, ऐसी ही दैवी में और किसी स्थल पर राम में शम्भुत्व की स्थापना कर सकते थे । किन्तु उनकी वैष्णवीय प्रेरणा ने उन्हें ऐसा न करने दिया । वे राम को विष्णु नहीं मानते पर वे उन्हें वैष्णवीय दृष्टि से देखते हैं । उधर सूरदास कृष्ण को विष्णु मानते हैं । वे वैष्णव हैं ।

यहाँ वैष्णवों की स्थिति समझ लेना उचित है । प्रायः वेदान्तवादी ब्रह्म का जो रूप निर्दिष्ट करते हैं वही रूप वैष्णव लोग विष्णु का करते हैं । विष्णु और ब्रह्म में उनके लिए कोई अन्तर नहीं है । वैष्णवों की तरह वे विष्णु को ब्रह्म से पूजक एक शक्ति प्रतीकमात्र नहीं मानते हैं ।

सूर और तुलसी की धारणा में यह अन्तर हो जाने से उनकी शैलियों में भी अन्तर उपस्थित हो गया है । सूर के विष्णु का एक विशेष स्थान है, उनका आकार प्रकार भी है । तुलसी के ब्रह्म में रूप रेखा कुछ नहीं है । सूर कृष्ण के मूर्त-रूप का स्मरण उनकी वैष्णवीय किमार्गों के विभिन्न दर्शन द्वारा कर सकते हैं उनके रूप रङ्ग, उनके रहन-सहन का वर्णन करके वे अपने उपास्यदेव के रूप को हमारे सामने रख सकते हैं । तुलसीदास उस 'सकल विकार रहित गतमेव' का वर्णन करने में कौन सा चित्र रख सकते थे ? वे तो केवल उसके गुणों का बखान कर सकते हैं, उसके नाम भी याद कर सकते हैं ।

हम देखते हैं कि सूरदास कृष्ण का वर्णन करते-करते उनके मद्भूत रूप का वर्णन करने लगते हैं—

कर यहि पग धौगुठा मूल मेलत
 दिग सोभत विधि बुद्धि बिचारत,
 बट बाढ़यो सागर जल भेलत ।

उनके ऐसे वर्णन से हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है । हम वहीं भूल न जायें, इसलिए सूरदास कृष्ण का शिव विराजित देवताओं का चक्रित कर देने वाला प्रभावोत्पादक रूप हमें दिखा देते हैं । परन्तु तुलसीदास केवल—

‘मगत भूमि भुमुर सुरभि सुर हित शानि कृपाल ।

करत चरित बरि मनुज तनु सुनत मिटाहि जगजाल’ ॥
 कह कर हमें भूल हो जाने से बचाते हैं ।

जब बालक कृष्ण से देहरी नहीं लांघी जाती तब सूरदास भी समान्य और कौतूहल के बंध वैषम्य को दिखाते हैं उनके सामने भी बामन के तीन पैर आ जाते हैं, साय ही बिष्णु के और अवतारों का भी उत्सर्जन कर जाते हैं । ऐसे वैषम्य से तुलसीदास को भी कौतूहल होता है उन्हें कहना पड़ता है कि बिन्धुने तीन ढगों में सारी पृथ्वी नाप ली बही केवट की लुघामय कर रहे हैं । वानों कवियों के हृदय में एक-सा विस्मय है पर कहने का ढंग अलग-अलग है । एक स्थल पर नहीं अनेक स्थलों पर सूरदास न कृष्ण के बिष्णु के रूप की इसी प्रकार याद दिलायी है । हमें बतलाया है कि ‘भूल भग जामा’ कृष्ण मनुष्य नहीं, किन्तु बिष्णु के अवतार हैं । इसी प्रकार तुलसीदास ने भी बार-बार राम का स्मरण कराया है । बात दोनों की एक है, पर इन दोनों ने भिन्न हैं क्योंकि दोनों ने वस्तु के तत्त्व को भिन्न प्रकार से ग्रहण किया है । ऐसी दशा में इसके लिए केवल तुलसीदास ही खोपी नहीं समझ जा सकते हैं । उनके बह्य का कोई आकार न होने के कारण वे सूरदास को तरह सीलात्मक रूप से राम का विभिन्न स्मरण न करा सके, साय ही उनके प्रबन्ध-काव्य ने उनके ऊपर और भी अनेक घयन डाल रखे थे ।

निःस्सन्देह अपने दृष्ट का स्मरण कराने का सूरदास का षग सजीव और बहुत ही मधीन है । वह कलात्मक भी है । फिर चाहे वह धार्मिक दृष्टिकोण के द्वारा ही क्यों न हुआ हो ? यहाँ हम देखते हैं कि धार्मिक विस्वास किस प्रकार काम्य की दिशा में परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं ।

अमरगीत का एक मर्म

अमरगीत की परम्परा पर विचार करते समय साधारणतः दूत-काव्यों का उल्लेख किया जाता है, और वेद तक में दूत काव्य के अस्तित्व के दर्शन किये जाते हैं। फिर इस दूत परम्परा का साहित्य में हमें अनुकरण मिलता है^१ किन्तु वह कालिदास के 'वेददूत' में काव्यत्व के चरम पर पहुँच जाता है। कालिदास के उपरान्त तो दूत-काव्य परम्परा पर्याप्त दीर्घ है।^२

'दूत' शब्द का सबसे पहले व्यवहार जिस क्षेत्र में हुआ यह तो नहीं कहा जा सकता पर शब्द की आत्मा जैसे इसे राजनीति क्षेत्र में जन्म लेने वाला बताती हो। तब यह साहित्य-क्षेत्र में वहाँ से उभार लिया गया है। साहित्य-क्षेत्र में आकर 'दूत' हमको

१ कालिदास से पूर्व रामायण में वाक्योक्ति में इन्द्राय को छन्देय लेखर होता है पास में। इस लोको का विचार है कि वह वेदभूत रामायण के इन्द्रवन्देय की प्रेरणा से ही लिखा गया। मल्लिनाथ ने लिखा है—'छोटापनि-रामस्य इन्द्रवन्देय' मन्त्रि विचार में वन्देयों की इन्द्रवन्देयः ॥' की इन्द्रवन्देय पोहार की मे उपलब्ध छवि इस कथन की सत्यता सिद्ध करने को कहा है। महाभारत में भी दूत की परम्परा है।

२ छेठ इन्द्रवन्देय पोहार की मे १४ दूत-काव्य गिनाये हैं जो वेदभूत के अनुचरण पर बने हुए बताते गये हैं : १-वासवामुख्य [विजयेनाचार्यशय] २-मेन्द्रित [विष्णु] ३-ईश छन्देय [विष्णुमाधव] ४-बोधिस-छन्देय [अरण्य] ५-सुख-छन्देय [लक्ष्मीदास] ६-पद्मभूत [वीर] ७-पद्मभूत [वज्र] ८-पद्मभूत [विजय विजय] ९-मन्त्रेय [तेजस्य मन्त्राण] १०-वशाक दूत [अमरचरमौ] ११-अद्भुत [माधव चरमौ] १२-अद्भुत छन्देय १३-ईश दूत [अमरचरमौ] १४-मन्त्रेय [मन्त्रभूत] १५-रवाग दूत [लक्ष्मीचरण]

दि० मे० दू० विमर्श ३० २२

शृंगार रस का अन्यतम सहायक प्रतीत होता है। विशेषतः दूत शब्द जब स्त्रीलिंग 'दूती' बन जाता है, तो साहित्य में शृंगार रस के लिए कितने ही भावों में अनिवार्य हो जाता है। 'दूत' पुद्गल-पक्ष से अथवा नायक-पक्ष से सम्बन्ध रखता है, 'दूती' नायिका-पक्ष से। दूत नायक की ओर से 'नायिका' के पास पहुँच कर नायिका की केवल मनोस्थिति का पता ही नहीं लगाता, नायिका के मन में प्रेम-भाव को और उद्दीप्त करने का प्रयत्न करता है। नायिका को नायक से मिलने का संदेश देता है, और उसे सहेट स्थान का भी संकेत देता है। नायिका के मन को भंग कराने में भी वह सहायक होता है।

साहित्य के रस-शास्त्र में दूत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। 'रति भाव' के परिपाक के लिए, शृंगार-रस की मनोवैज्ञानिक स्थिति में सहायक होने के लिए दूत अपरिहार्य-सा बिंदित होता है। शृंगार रस में अवलम्ब और आश्रय उभयाधित और उभया निवृत्त रहते हैं। नायक और नायिका में से दोनों एक-दूसरे के लिए अवलम्ब और आश्रय दोनों ही होते हैं। अब रति-भाव की समग्र अवस्थिति के लिए नायक तथा नायिका दोनों में ही रति भाव जाग्रत होना चाहिए। यदि केवल रति भाव एक पक्षगत है, तो या तो उसे भक्ति-कोटि की अनन्य रति का रूप मिलेगा जिसकी प्रकृति का 'चातक' की अन्योक्ति से तुलसीदास ने निरूपण किया है—

तुलसी चातक भिठ कवहुँ, बहस न प्रिय के दोष।
ताते प्रेम-पयोधि की, तुलसी नाप न ओष।
उपरु बरसि गरजत तरनि, पंख करहु दुक दूक।
तुलसी परी न चाहिए अतुर चातकाहु बूक।

या, फिर वह रति भाव ही सिरोहित हो जायगा। रति भाव के लिए स्वयं रति-भाव ही एक प्रकार का उद्दीपन होता है। अब रति-भाव पारस्परिकता की अपेक्षा रखता है। रति भाव की दूसरी विशेषता यह है कि यह अत्यन्त संकोचशील होता है। इस संकोचशीलता के कारण ये हैं—रति भाव मौलिक प्राकृतिक भाव है जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकृति की मौलिक प्रजनन क्रिया

अथवा सृष्टि विस्तार की क्रिया से है। विस्तार की भावना के साथ प्रकृति का दूसरा मौलिक भाव 'रसा प्ररणा' का होता है, जो सृष्टि सूजन की क्रिया से गहरा गुंथा रहता है। विस्तार और रसण के भावों के साथ प्रकाशन और गोपन की चट्टाओं का सम्बन्ध है। इन दोनों चट्टाओं के अपने क्षेत्र बन जाते हैं—प्रकाशन का क्षेत्र 'वात्माय' कहा जा सकता है और 'गोपन' का 'परीय'। धार्मिक क्षेत्र में प्रकाशन की चट्टा और परीय क्षेत्र में गोपन की चट्टा से ही मौलिक 'सूजन और रसण' का प्राकृतिक अभिप्राय पूर्ण होता है। इन प्राकृतिक मूल भावों का जन्म ही प्रकृति में विद्यमान 'जीवन' और 'मृत्यु' में सतत संघर्ष के कारण हो हुआ है। वेद ने इस स्थिति को इस मंत्र में मसी प्रकार स्पष्ट किया है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं नपासत प्रथिषा यस्य देवा ।
यस्य चक्षुषा ज्युतं यस्य मृत्यु कस्मै देवाय हविषा विधम ।

इस अमृत्यु (जीवन) —प्रसार—प्रकाशन—रति और मृत्यु—संकोच—रसा—गोपन—मय का समवाया सम्बन्ध है दोनों एक साथ अस्तित्व ग्रहण करते हैं। प्रसार अथवा रति भाव को गोपन का भाव रसा के अभिप्राय से प्रकृतित हो घनिष्ठ रूप से आवृत किये हुए है। प्रकाश-गोपन के इस प्राकृतिक व्यापार की धूपछाया 'सज्जा' बन जाती है, यह 'सज्जा' रति पक्ष में प्रकट होती है। क्योंकि 'अस्तित्व' की प्राथमिकता होती है रसा भाव या अस्तित्व के निमित्त को सिद्ध करने के लिए ही होता है। 'आत्म' प्रकाश के लिए रति-भाव 'पर' से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है पर यह 'परत्व' भाव-मय संकोच और गोपन की प्रकृति का सूत्रपात करता है—तब प्रकृति का उद्देश्य कैसे पूर्ण हो? रति पक्ष निस्संकोच भाव से परत्व का पूर्ण समर्पण करके अपने मूल भाव को स्थिति को सम्भावना उत्पन्न नहीं होना देना चाहता। वह उस 'पर' में भी आत्म भाव का दर्शन चाहता है—आत्म भाव के दर्शन के अर्थ हैं 'पर' में भी 'रति भाव' के उद्वेग का ज्ञान। दूसरे शब्दों में 'पर' का 'आत्म' में तात्कालिक भाव। इसके लिए 'आत्म' 'पर' के सम्बन्ध में आन्वयस्त होना चाहेगा—तभी उसे 'भूत' की अपेक्षा होगी अर्थात् एक मध्यस्थ की।

यह रति भाव मूलतः आध्यात्मिक है मात्र प्राकृतिक अथवा

भौतिक प्रक्रिया नहीं । प्रकृति तत्त्व अथवा भौतिक तत्त्व तो अमीबा की भाँति स्वयमेव विभा रति भाव के ही 'एको हं बहुस्याम' की साधना कर सकता था । किन्तु मानव के प्राणों में रति द्वारा ईश को अद्वैत भाव में तिरोहित करने की जो छटपटाहट है वह पाश बिक भाव अथवा भौतिक प्राकृतिक भाव से भिन्न ही एक भाव से अभिमण्डित रहती है । फलतः मानव का मन रति भाव को एक अलौकिकता से युक्त करके देखता है, वह उसे प्रकृति के मात्र विस्तार भाव सुख भाव संतति-परम्परा के क्षेत्र से, मात्र काम भाव से आवृत नहीं देखता, वह उसे प्रेम का नाम देता है । उस प्रेम को वह काम भाव की भाँति अस्वादि, क्षणमंगुर रूप में ग्रहण नहीं कर सकता । वह इस प्रेम में अनन्त और अनादि को प्रतिष्ठित पाता है । वह उस प्रेम को किसी अनन्त और अनादि सत्ता का समवायी मानता है उसी का प्रतिरूप । तब वह उस अनन्त और अनादि सत्ता को कोई नाम दे देता है जैसे 'ब्रह्म' और वह अनुभव करता है कि प्रकृति में सिसृच्छा की प्रवृत्ति इसी अनादि-अनन्त ब्रह्म की प्रेमानुभूति की लीलात्मय आवतारणा है—जो आकार ग्रहण कर लेती है । यह साकार सृष्टि और इसकी समस्त प्राकृतिक रति-भावना बाह्यतः उस ब्रह्म के समवाय प्रेम भाव के विस्तार क्रम का परिणाम है—क्षण-मंगुर, नाशवान अतः विषाद और दुःख से परित्यज्यार्थ—इस ओर प्रवृत्त होता होना वह दुःख से तृप्त उठता है तब इस रति भाव को भूत-सत्ताओं से विरक्त कर प्रेम की ओर उन्मुख होता है, और उस प्रेम में से लौकिकत्व का निवारण कर भक्ति का अलौकिकत्व प्राप्त कर लेता है । इस भूमिका में वह दूत 'गुरु' का रूप भी ग्रहण कर लेता है । आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु, पैगम्बर अथवा दूत के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ! ब्रह्म तथा आत्मा या जीव भायक या नायिका बन जाते हैं ।

ये दूत कई प्रकार के कार्य करते हैं । वे केवल अपने पक्ष का धिक्कर भर देते हैं—

सिक्कन बैठि जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर,

अमे न केते जगत में, चतुर धितेरे कूर ।

धिक्कर-वर्जन में भी दूत का अभिप्राय यही होता है कि नायक अथवा नायिका को दूसरे के प्रति आकृष्ट किया जाय । रति भाव

का बीजारोपण किया जाय ।

वह उस वर्णन के द्वारा सहानुभूति, संवेदना अथवा करुणा का भी समावेश कर सकता है । नायक अथवा नायिका का मन प्रविष्ट कर सकता है । वह नायक-नायिका के मिलन की विधि बता सकता है, मिलन का स्थान बता सकता है । वह उनके मान को भग करान में सहायक हो सकता है । वह अन्य अनेकों प्रपञ्च कर सकता है । यहाँ तक कि वह उन्हें उपदेश भी दे सकता है । पर सभी का लक्ष्य होगा यही कि परस्पर नायक-नायिका के प्रेम विषयक भावों का परिचय मिले और वे एक-दूसरे के निकट आते जायें, उनके बाह्य बाधाएँ और बचन शिथिल होते जायें वा दूटते जायें उनके ऐसे मानसिक संस्कार जो संकोच उत्पन्न करते हैं दूर होत चले जायें । इतना यथार्थ स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने और संधि कराने के लिए प्रयत्नशील रहता है । बिग्रह अथवा विकल्प के लिए भी इतना का उपयोग हो सकता है पर वह हो सकता है किसी प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा ।

अब उद्धव की स्थिति देखिये—

कण्व उद्धव को गोपियों के पास भेजते हैं जिसका स्पष्ट अभिप्राय है कि प्रेमी अथवा नायक प्रेमिका अथवा नायिका के पास सन्देश भेजता है । फलतः उद्धवजी सन्देशवाहक 'वृत्त' कहें जा सकते हैं ।

सन्देश-वाहक तो दौत्यकर्म है, इसमें सन्देह नहीं । पर यह दौत्यकर्म किस अभिप्राय से है ? उद्धवजी के ज्ञानवादी अहंकार को नष्ट करने के लिए, और उन्हें प्रेम-मार्ग के भ्रम का ज्ञान कराने के लिए ।

२ गोपिकाओं को कण्व से विमुक्त करके ब्रह्म में मग्न कराने के लिए ।

सूरसागर में प्रथम दृष्टि का तो संकेत स्पष्ट मिलता है—

गोपिन के परमोद्यन कारण, जैसे सुनत तुरत

अति अभिमान करंगो मन में जोगिमि की यह भाँति ॥३४१६॥

४०३७

जोय की अभिमान करिहैं बजहिँ जैह पाइ ॥३४२१॥४०३८

कछु कहत यह एक प्रगटत, अति मरुयी अहंकार

प्रेम भजन न नेकु याफ, जाह क्यों समुझाह ।

सूर प्रभु मन यहै आना, अर्थाहि देख पठाह ॥३४१३॥४०३१

उदव मे याग जान का अहंकार बा । पर ये ये कण्य के सखा । कण्य को यह बात कुछ अंतरसी थी—

जदुपति सखा ऊधौ जानि ।

सगे मन मन यहै सोचन भली नहीं यह बानि ।

अस भुज भरि होत ठाढ़ी निठुर जैसी काठ ।

संग यह नहि बनत नीकौ

+ + + +

सूर कैसहु प्रेम पामै तबहि होइ मुरूप ॥३४१२॥४०३०

काठ जैसे निठुर का साथ कैसे छोडा वे सकता है । यही नहीं इनसे तो बात करना भी बठिन है । क्योंकि कण्य सोचते हैं—

औ कहौ सीकरे क्यों यह निदिहै अस मोहि ॥३४१२॥४०३०

और—बात कहत न बनत यासौ निठुर ओगी अग ।

प्रेम सुनि विपरीत भाषत होत है रस भग—॥३४१४॥४०३२
वह फिर सोचते हैं—

सग मिलि यहाँ कासौ बात

यह तो कहत अंग की बातें जामें रस भरि जात ॥३४१५॥

४०३३

इसीलिए कण्य समझते हैं कि—

हस काग को सग भयी । ॥३४१८॥४०३६

इस बाधा को दूर करने के लिए ही कण्य ने निश्चय किया कि—

माकी ज्ञान यापि अज पठवौ और न याहि उपाठ

सुनहु सूर माकी अज पठऊ भसी वनैगौ पाठ ॥३४१८॥४०३६

याहि और नहि कछु उपाह ।

मेरी प्रगट बहूनी नहि यदि है अज हों देख पठाह ॥३४१९॥

४०३७

कण्य देखते हैं कि जहाँ तक रूप का प्रदम है—‘सखा सखा कछु अंतर नाही’—वे जैसे कण्य के प्रतिरूप ही हैं, ‘अति सुन्दर

ज्ञान-स्याम सरीसौ'—पर इस सुन्दरता के-साथ वैसे ही बुद्धि तो नहीं है—'ऐसे के वैसे बुद्धि होती।' वह बुद्धि प्रेम पाने से ही हो सकती है—

सूर कैसेहुँ प्रेम पावै, तबहि हाइ सुख ।

किन्तु यह प्रेम कहने से तो उत्पन्न नहीं होगा—'विरस रस किहि मंत्र कहिये' ॥३४१३॥४०१०॥ क्योंकि उद्वेग को भी तो अपने मत्त का हठ था, और अहंकार भी। अतः गोपिकाओं से मिलकर ही ये दोनों बातें सिद्ध हो सकती हैं—अहंकार का नाश और प्रेम का उदय। इन दोनों की ही उद्वेग की आवश्यकता थी।

कण्व को यह परेखा था कि—

रेस रूप न बरन जाकै, इहि घरयी वह मेम ।

त्रिपुन तन करि लसत हमको ब्रह्म मानत और ।

यह अम उद्वेग को है कि कण्व ब्रह्म नहीं, ये तो त्रिपुन से मुक्त हैं। साकार हैं। ब्रह्म तो त्रिगुणातीत हैं। वह ब्रह्म तो कोई और है।

इससे स्पष्ट है कि उद्वेग को कण्वजी ने दूत बनाकर भेजने का विचार इसलिए नहीं किया कि वह गोपियों के पास कोई प्रेम-संदेश भेजना चाहते थे। और कण्व की दृष्टि में भी संदेश भेजना मौम ही था—

ज्ञान बुझाइ लखरि दै आवहु एक पय द्वै काम ॥३४३२॥

४०३०

उद्वेग को ब्रज भेजने के उक्त दो कारण ही मुख्य थे जिनका भी केवल एक ही अभिप्राय था कि उद्वेग में कण्व की मिथता की पामता भा जाय, और ब्रज के रस की बातें उनसे कर सकें। अथवा, वह कण्व के साकार रूप में ब्रह्मत्व को भी मान्यता प्रदान करें।

इस दृष्टि से उद्वेग का बीज 'मायक-मायिका' सम्बन्ध की दृष्टि से कुछ भी नहीं रहता।

इसी विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कण्व ने उद्वेग को इसी लिए दूत बनाकर नहीं भेजा था कि वह गोपियों को ज्ञान दे जाय अथवा उन्हें कण्व से विमुक्त कर जाय। यद्यपि उद्वेग

से बारम्बार धीर हर बार कण्ठ ने यही कहा है कि गोपियों को मृम से विमुक्त कर आओ—

जोग ज्ञान परयोधि सजनि कौं, ज्यों सुख पावैं नारि ।

पूरन ब्रह्म अकल परिचै करि, नारें मोहि बिसारि ॥३४२८॥

४०४६

उन्होंने यह भी कहा कि उनका 'विरह' दूर कर आओ—

विरह अंजाल मेदि गोपिनि कौं, आवहु काय निबाहि ।

॥३४३०॥४०६८

तुम ब्रह्म नारि जानि मन सकुचत, कहि धौं जोग सुनावहु ।

बानी कहत समुक्ति वे लैहैं, कही ह्यारी मानी ।

विरह दाह यह सुनत बुझै है, मार्गो अमलहि पानी ।

अबहीं जाहु विकल सब गोपी, जोग वचन कहि पोयो

॥३४३३॥४०५१

हमहि बिना गोपिका विरहिनी, तिनके पुञ्ज हरो ।

॥३४२८॥४०४६

काम पावक, मूरु तन में । विरह स्वास समीर ।

जरि असम नहि होन पावैं । मोचननि के नीर ॥३४२७॥४०४५

नियेष की स्थिति के उपरान्त बिजि की स्थापना की बात भी कृष्ण ने बतायी है—

१ स्तुति सन्देश सुनाइये ॥३४२७॥४०४५

२ पूरन ब्रह्म अकल अविनासी ताके तुम ही जाता ।

रेख न रूप जाति कुल नाही जाके नहि पितु-माता ।

यह मत है गोपिनि कौं आवहु, विरह नदी में भासत

मूर तुरत तुम आव बही यह, ब्रह्म बिना नहि भासत ॥

॥३४२६॥४०४४

आदि

कृष्ण के स्थान पर मिथुन 'ब्रह्म' की स्थापना करके, योग मार्ग सिखाने का परामर्श भी दिया है—

१ सोइ कीजो जातें ब्रजभाला, साधन सीखें पीम ।

॥३४५२॥४०५०

२ भोग बचन कहि पोसी ॥३४३३॥४०५१

यह सब इसलिए कि वे सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर सकें । वहा में तीन होने का मार्ग पा सकें—क्योंकि उन्होंने मुझे सर्वस्व अर्पित किया तो तीन चीजें तो उन्हें मिल गयी—१ सामोदय, २ सामीप्य तथा ३ सारूप्य ।

व्याज में ये रतन दीन्हे ब्रूया गोप-कुमारि ।

सामोदता सामीपता सारूपता, भुज भारि ॥

पर—इक रही सायुज्यता सो, सिद्ध नहीं बिनु ज्ञान ।

॥३४३१॥४०४२

यह समस्त प्रसंग है ब्रूत प्रयोजन का । किन्तु समस्त प्रसंग ध्वनि गर्भित है—जिसका अभिप्राय केवल एक है कि उदय में कृष्ण के प्रति प्रेम पैदा हो जाय । किन्तु यह अर्थ इससे भी भाये जाता है । इसका विशेष कथन उदय के लिए तो आवश्यक है, पर सामान्य कथन जैसे किसी भी ज्ञानवादी पात्र का साकार कृष्ण के प्रेम की ओर प्रेरित करनेवाला है । किन्तु 'उदयदीप्त्य' में कथानक गर्भित एक अन्य अभिप्राय भी है । इस गीत-काव्य का विरल कथानक भूमिका की भाँति प्रत्येक पद के पीछे है । सूरदास कृष्ण के 'संयोग' वर्णन को अतिशय पर पहुँचा चुके हैं । उसी अतिशय पर संयोग-सूत्र छिन्न हो जाता है । संयोग का स्वाम वियोग ग्रहण कर लेता है । यों भूमार (अथवा भक्ति) रस को परिपूर्णता के लिए भी संयोग के साथ वियोग का वर्णन आवश्यक होता है, क्योंकि प्रेम का स्वरूप बिना दोनों के पूर्णतः स्फुट नहीं होता । 'संयोग' अत्यन्त सूक्ष्म पक्ष है—बहु ईत पक्ष है, उसमें प्रेम विलास के पंक से भुवत रहता है—बहु भोग है । वियोग उसी का सूक्ष्म पक्ष है—बहु अईत है, उसमें निर्मल मिष्टा है बहु त्याग का उत्पन्न तम स्वरूप है । सूरदासजी ने सूरसागर का प्रकृत विषय है कृष्ण गोपी प्रेम । भाव्यमिकता से हीन प्रेम । कृष्ण और गोपी का प्रेम साक्षात् प्रेम है—म इसमें भिन्न दर्शन है, न गुण-कथन कहनेवाला कोई पात्र है । एक दूसरे को प्रत्यक्ष देखते हैं प्रेम उत्पन्न हो जाता है । उसी स्थिति के कारण सूरदास के बल्लभ सम्प्रदाय में 'गुरु' का निषेध करके 'गुरु' की स्थापना की गयी है । भुद गुरु नहीं बहु स्वयं कृष्ण है—तो साकार कृष्ण का साक्षात् संयोग गोपिकाओं को मिला—समस्त प्रेम की स्थितियों में होकर बहु संयोग विकसित

होकर धरम पर पहुँच गया—किन्तु 'साकार' कण्य बने गये । अब कयाकार के सामने प्रेम की प्रवृत्ति से भिन्न भी यह प्रश्न पैदा हुआ कि 'अब कण्य का क्या होगा ?'

इसका अभिप्राय यह है—

- १ क्या कण्य की साकारता अब भी रही ?
- २ क्या उसकी साकारता का स्थान निराकारता से सकती है ?
- ३ गोपियाँ अब कण्य को क्यों प्रेम करें ?
- ४ यदि वे अब भी कण्य से प्रेम करती हैं, तो जीवित किस आधार पर रह सकती हैं ?

इन समस्त प्रश्नों का समाधान भ्रमरगीत में सूर में प्रस्तुत किया, पर कथानक की मूल प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित था कि, एक तो, उस संयोग बिम्बिन्न प्रेम को उद्दीपन मिले । दूसरे वह उद्दीपन ऐसा प्रबल हो कि गोपियों की अपनी स्थिति या तो अत्यन्त दुर्द हो जाय या अत्यन्त शिथिल । बिना इसके कथा-सूत्र का अन्तर्भाव परिपूर्णता ग्रहण नहीं कर सकता । उद्दब का दौरा कथानक की दृष्टि से इस संयोग के लिए भी है ।

इस प्रकार उद्दब को न तो ठीक ज्यों में 'दूत' माना जा सकता है, न इस काव्य को 'दूत-काव्य' ।

किन्तु इससे भी आगे यदि देखें तो विदित होता है कि कण्य की दृष्टि से भले ही उद्दब को दूत न माना जा सके, पर गोपियों की दृष्टि से तो वह दूत-कोटि में आ ही सकते हैं । 'मेषदूत' के द्वारा कामिवास ने यह स्थापित कर दिया है कि 'दूत-काव्य' के लिए यह अपेक्षित नहीं कि उसमें कोई दूत सन्देश लेकर प्रियतमा अथवा प्रियतम के पास आ ही पहुँचे । नायिका अथवा नायक यदि किसी को सन्देशवाहन के योग्य मानकर उसे अपना सन्देश दे-देते हैं, तो भी ऐसा काव्य दूत-काव्य माना जावेगा । इस दृष्टि से गोपियाँ उद्दब को अपना सन्देश देती हैं जैसे—

ऊँची इतनी कहियी बात

+ + + +

कागी बेगि-गुहारि सूर प्रभु गोफुक बेरिन-पात १४०६६।

तथा

ऊषी इतनी कहियी जाइ

मति कस गाव मई मं तुम निनु परम दुखारी माइ ॥४०७०॥

४६८८

तथा

तुम कहियो जैसे योकुल बाबें ॥४०७१॥४६८९

तथा

ऊषी कहियी यह सन्देश

ये सभी यथार्थतः सन्देश हैं जिन्हें गोपियाँ कृष्ण के पास उद्यव द्वारा भेज रही हैं। किन्तु वस्तुतः ये प्रति-सन्देश हैं। यद्यपि उद्यव को हम कृष्ण के दूतत्व में बिकस देखते हैं। उद्यव स्वयं कहते हैं—

हारि मानि उठि अस्सी दीन छै मानि अपुन तन सेव

॥४१२८॥४७४६

इसी पद में आये—

अपनी बात जानि मन-ही-मन, अस्सी बसीठी तौरि

क्योंकि वह गोपियों से अपनी बात कह नहीं पाते। वह एक बात कहते हैं तब तक गोपियों की बातों की धाड़ जाती है और उद्यव की बात उसमें वह जाती है। उद्यव कहते हैं—

हौ मरि एक कहीं पहरव में, वे पल माहि मनेक

हारि मानि उठि अस्सी दीन छै छाड़ि आपनी टेक

॥४१३०॥४७४८

तुम जो कह्यी जान की मारग, पानी छै सु बह्यी

॥४१३१॥४७४९

हौ पबि एव कहीं निरगुन की, ताहु में जटकाळ ।

वे उमड़ें बारिधि के जल ज्यों क्यौहुं पाह न पाळ

॥४१२९॥४७४४

ऐसे उद्गार बार-बार कृष्ण से उद्यव ने कहकर अपनी दीनता और अपने सन्देश की दीनता सिद्ध की है। किन्तु दूसरी ओर वे कृष्ण से गोपियों की बातें कहते नहीं भयाते। इससे यह प्रकट होता है कि वह कृष्ण के दूत के रूप में उसे ही असफल रहे हों पर,

गोपियों का दूतत्व तो उन्होंने मसीमांति कर ही दिया । तो फिर प्रति-सन्देह के नाते ही सही, उन्हें गोपियों का दूत माना जा सकता है । गोपियों ने, यक्षोदा ने, ब्रजवासियों ने उद्धव द्वारा अपने सम्पन्न कृष्ण के पास भिजवाये हैं । तो फिर उद्धव को दूत तो मानना ही चाहिए, पर गोपियों का अर्थात् ब्रजवासियों का ।

किन्तु विदित होता है कि यह स्थिति भी ठीक नहीं । इसके लिए ये कारण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

- १ दूत रति की वर्तमान स्थिति को नायक अथवा नायिका के पक्ष में प्रगतिवाम करता है । गोपियों का सन्देश कृष्ण में कोई विशेष प्रगति पैदा नहीं करता । उस सन्देश का दोनों ओर से कोई परिणाम उन दोनों पक्षों के लिए नहीं ।
- २ दूत नायक अथवा नायिका का सन्देश मात्र बहान करता है स्वयं अपना व्यक्तित्व विलीन नहीं कर देता । यहाँ उद्धव वस्तुतः गोपियों का सन्देश कृष्ण को नहीं सुना रहे, बरन् अपनी परिणति की ही बात कह रहे हैं, निगूण की वाणी-हीनता का उल्लेख कर रहे हैं, और गोपियों के प्रेम-सागर का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं ।
- ३ दूतत्व में नायक-नायिका के पक्ष को ही दृष्टि में रखा जाता है, वह इन दो छोरों के मिलाप का ही कार्य सम्पादन करता है उससे बाहर जाकर वह कोई सामान्य भूमि नहीं प्राप्त करता । इस दूतत्व में नायक-नायिका का पक्ष गौण है 'दूत' की परिणति तथा दूत के अहंकार के आधार 'निगूण' की निष्कृति ही उसका अभीष्ट है—इससे भी आगे गोपियों के प्रेम की व्यापारिक महत्ता ही इससे प्रकट होती है^१ ।

^१ यह बात स्पष्ट है कि यों तो कृष्ण ने उद्धव को स्वयं प्रेम का सन्देश देने में अपनी असमर्थता प्रकट की है । उस असमर्थता में एक मात्र तो यह है कि प्रेम एक भाव है जो बौद्धिक साधन से नहीं जाना जा सकता, उसमें तो अनुभूति ही हो सकती है । किन्तु यह भी कारण था कि करने प्रति प्रेम का अर्थ स्पष्ट करने मात्तम से नहीं । रा लगे थे । उद्धव में गोप-भाव तो गोपियों के साथ ही पैदा हो सकता था

५ फलस्त उदय में दीर्घ-वर्म न तो कृष्ण की ओर से स्फुट होता है न गोपियों की ओर से ।

यह दीर्घ केवल पुच्छभूमि का कार्य करता है । यह वाउ भी यही स्मरण रखनी उचित है कि इस समस्त प्रसंग को 'अमर मोत' का नाम दिया जाता रहा है । यह नामकरण हमारे दृष्टि से उदय को भी खोमल कर देता है । हमारे समक्ष रह जाता है केवल 'अमर' और 'अमर' में उदय का सादात्म्य—

'ऊषी जो मन होत बियाँ । इस पद में उदय को सम्बोधन करते हुए, उन्हें ही दूसरे सम्बोधन में गोपियाँ कहती हैं—

अव वा रूप रासि बिनु ममुकर, कैसे परत बियाँ ॥३७२७॥
४३४२

इसी प्रकार अन्य कितने ही पदों में यह स्थिति मिलती है । यह स्थिति न तो द्वैत की है कि एक बार उदय को सम्बोधन किया जा रहा है, और दूसरी बार अमर को । न अमर की है कि उदय से कहते-कहते भूल से अमर से कहने लगीं । यह वस्तुतः सादात्म्य ही है । यह सादात्म्य अमर का उदय में ही नहीं उदय के आगे कृष्ण में भी है । फलस्त गोपियों के मानस के समक्ष तीन व्यक्तित्व है—

१ कृष्ण

२ अमर-ममुकर

३ उदय

इन तीनों व्यक्तियों का गोपियों की आध्यात्मिक उपलब्धि में विशेष महत्व है । जिसे नीचे की सारिणी स्पष्ट करती है

कृष्ण=स्थिति=ब्रह्म

अमर=गति=मन अथवा प्राण

उदय=बाणी=शरीर

सूरदास मन अति अनुरागी कहि कैसें मुख पावत ॥३२०३॥

४१२१

अब समस्त काव्य की स्थिति यह है कि कृष्ण और गोपी अपया ब्रह्म और उससे उद्भूत आत्माएँ कृष्ण के सम्पर्क से आध्यात्मिक प्रेम से अनुप्राणित हो उठती हैं । वे कृष्णमय हो गयीं

। तब कृष्ण उससे विकलग होकर उन्हें व्याध्यात्मिक विरह-से मुक्त कर देते हैं । यह विरह प्रेम का वह स्वरूप है जो साध्य से संयुक्त होते हुए भी साधनावस्था को प्रधानता देता है । यही गुरु का धर्म और मर्म है । गुरु साधनावस्था में होते हुए भी 'साध्य' से अन्वित रहता है, सिद्ध होता है । गोपियाँ अब उसी स्थिति में हैं—वे उद्यव के 'व्यक्तित्व' के लिए गुरु हैं, साधन हैं । उस साधन से उद्यव में गति उत्पन्न होती है—यही अमर का समविश होता है । भामह के समय में सम्भवतः अमर भाषि को वृत्त के रूप में काव्य में स्थान देने की प्रणाली प्रचलित थी । तभी उसने 'काव्य सकार' में लिखा है—

अव्यक्तिमद्यथा वृत्ता जलमृग्मास्तवाय ।

तथा अमरहारीतजक्कवाकशुकादय ॥४२॥

अवाको व्यक्तवाचश्च वृत्तेशविचारिणा ।

कथं दीप्त्य प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥४३॥

यदि चोत्कृष्ट्या तत्तदुत्तमं न भवति ।

तथा भवतु भूमेर्व सुमेधोमि प्रयुज्यते ॥४४॥

—प्रथम परिच्छेद युक्तायुक्त विचार प्रकरण

जलमृग, मादत, अमर, हारीत जक्कवाक, शुक भाषि को वृत्त बनाना अव्यक्त है । सूर ने उद्यव के साथ अमर को प्रस्तुत करके साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से 'उत्कृष्टता' का स्वरूप भी दिखा दिया है । तब अमर, जो माध्यम है कृष्ण और उद्यव दोनों से समन्वित हो जाता है ।

कहिमी मधुप अतुर मापी सीं तुमहू सखा कहावत ॥३६२४॥

४२४२

मधुप को कृष्ण का सखा बताया गया है ।

तुम अलि कासी कहत बनाइ ॥३६१७॥४२३५

अलि और उद्यव के तादात्म्य के तो अनेक पद मिलेंगे । मिम्ब पत्र में कृष्ण, ऊषी और अमर तीनों के तादात्म्य का स्पष्ट प्रतिपादन होता है—

मधुप तुम कहौ कहीं सँ आये हो ।

आगति हों अनुमान आपने तुम जटुनाथ पठाए हो ।

वैसेइ बसन, बरम तन सुन्दर, वेह भूपन सजि लाए ही ।
सै सरबसु सैय स्याम सिघारे, अबका पर बाहिरामे ही ।

जिससे साधन और साध्य का समीकरण होता दिखायी पड़ता है—यही समीकरण मिलकर उद्यम के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है । फलतः उद्यम का दृढत्व नहीं रह जाता, न कृष्ण का सन्देश रह जाता है, न गोपियों का सन्देश ही कोई बर्ध रहता है । उद्यम और भ्रमर नेत्रों के सामने हैं—वह प्रत्यक्ष कोटि में हैं । कृष्ण अप्रत्यक्ष कोटि में है, वह वही उद्यम और भ्रमर के माध्यम से उपस्थित हुए हैं । उद्यम और भ्रमर के व्यक्तित्वों में भूप छांह का-सा लाना-बाना है, जिससे मिश्र कर एक ही बस्त्र बनता है । सम्भवतः 'उद्यम और भ्रमर' दोनों तत्वों से ही अव्यक्त कृष्ण के समस्त रूप का दर्शन होता है । इस स्तर पर पहुँच कर 'उद्यम और भ्रमर' भी अपना महत्त्व खोने लगते हैं—'कृष्ण' ही उनमें से व्यक्त हो उठते हैं—और गोपियाँ वैदिक श्रद्धाओं की वाणी में कृष्ण की वन्दना करने लगती हैं ।

वृहद्ब्रता में, मन्त्र के बितने प्रकार हो सकते हैं उनका उल्लेख हुआ है—'मन्त्रा नामा प्रकारा स्युरवृष्टा य मन्त्रदर्शिनः और उन नामा प्रकारों को इस प्रकार बताया गया है—

स्तुति प्रशंसा निन्दा च सशय परिदेवना ।
स्फुहासी कल्पना यांचा प्रश्न प्रेप प्रहसिका ।
निमोमश्चानुमोमश्च बलाया विलपित च यत् ।
धाविस्थाप च सलाप पवित्राख्यातमेव च ॥
आहनस्य नमस्कार प्रतिरोधस्तर्पण च
सकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तर्पण च ।
प्रतिषेधोपदेशी च प्रमादापह्नुवो च ह ।
उपप्रेषश्च य प्रोक्त सज्वरो यश्च विस्मय
आश्रीतो मिष्टवाक्यैव क्षेप शापस्तर्पण च
उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि ॥६६॥

गोपियों ने 'उद्यम और मधुकर' के द्वारा कृष्ण के समस्त यही वैदिक प्रणायी की वाणी के मात्र-रूप पद अर्पित किये हैं ।

इस युक्ति से गोपियों ने जहाँ श्रद्धाभाव से अपनी वाणी का समस्त सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर दिया है वहाँ उद्यम और भ्रमर का उसी वाणी के माध्यम से उच्छिन्न कर दिया है । छीर की

बाणी और मन की बचलता को प्रेम के तरंगित-सागर के पास ले जाकर उसकी विकारहीन गहराई और अनन्तता में डुबा दिया है। उदब अमर तो परास्त होकर ब्रज में ही रह गया। उदब की बाणी गोपियों की बाणी होकर प्रेम की विविधय घोषित करती कृष्ण की शरण में पहुँच गयी। गोपियों के इस प्रेम के समक्ष कृष्ण, उनकी साकारता उन्हीं के साथ ज्ञान, योग सभी—महत्वहीन हो गये हैं। गोपियाँ कृष्ण की उपासना करते हुए उनके प्रेम-रूप को प्रेम-रूप में ग्रहण कर लम्बे हो गयी हैं। राधा-कृष्ण में साकार अभेद हो गया है—यह भक्ति का सायुज्य गोपियों को उपलब्ध हुआ है।

सूर का काव्य

सूर के काव्य को हृदयगम करने के लिए पहले तो यह बात समझ लेनी है कि निर्मायक तत्वों में निम्नलिखित बातें विद्यमान मिलती हैं —

१ भारतीय सांस्कृतिक मानस के उपादान । भारतीय मानस के सांस्कृतिक उपादानों में वे विश्वास और मान्यताएं मूर्छित होंगी जिनमें वैदिक और पौराणिक और दार्शनिक तत्व सम्मिश्रित हैं ।

२ भारतीय मेधा का मनोवैज्ञानिक, प्रातिम तत्व । इसके अन्तर्गत भारतीय सांस्कृतिक उपादानों के आधार पर जो भी व्यक्तिगत प्रतिभा अपना मौलिक विस्तार प्रस्तुत कर सकती है— वह इसमें सम्मिश्रित होगा ।

३ लोक-मेधा—इसमें वे तत्व आयेगे जो तत्व कि लोक के आदिम विश्वासों के परम्परा प्राप्त रूपों, विश्वासों और मान्यताओं को लिये हुए हैं । इस प्रकार भारतीय मानस में जो आदिम तत्व विद्यमान हैं, उनसे सहज सम्बन्ध स्थापित हो सके ।

४ जनबाणी—जिस युग में कवि हुआ है, उस युग के जन की अभिव्यक्ति हुई हो ।

५ साम्प्रदायिक तत्व—सूरदासजी जिस युग में हुए वह साम्प्रदायिक आचरणों का था और उन्होंने एक सम्प्रदाय का आश्रय ग्रहण भी किया था, यह सर्वविशित है ।

६ सार्वजनीन सामान्य तत्वों का समावेश—इनमें वे सब तत्व आयेगे जिनमें भूलास और इतिहास और सांस्कृतिक परि-सीमाओं से ऊपर उठकर जन और मानव में व्याप्त सामान्य तत्वों की अभिव्यक्ति हो ।

७ सार्वजनीन मानस की प्रातिम अभिव्यक्ति—बौद्धिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक परिसीमाओं से ऊपर उठकर सार्व-जनीन मानस की ऐसी अभिव्यक्ति जोकि विश्व की श्रेष्ठतम सेवाओं को भी सतोष प्रदान कर सके ।

८ साहित्य और कला के स्तर की स्वीकृति और

९ मानवीय अभ्यात्म की अनुभूति जो साम्प्रदायिक अभ्यात्म से भिन्न होती है और शुद्ध मानवीय स्तर पर खड़ी होती है ।

सूर की वाणी में इन नौ तत्वों का ऐसा पावन संयोजन हुआ है कि उनकी कला को एक वैशिष्ट्य मिल सका है जो हर किसी महान् कवि को साधारणतः प्राप्त नहीं होता । जब हम सूर के काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो पहले हमें भारतीय सांस्कृतिक उपादान आकर्षित करते हैं । इन भारतीय सांस्कृतिक उपादानों में हमें स्पष्ट रूप से तीन सीढ़ियाँ परिलक्षित होती हैं । एक—सांस्कृतिक उपादान की सामान्य भावभूमि । कृष्ण का कथानक भारतीय सांस्कृतिक उपादानों की दृष्टि से जब एक सामान्य कथानक है जिससे भारत का प्रत्येक जन मझी प्रकार परिचित है । तो, सूरदास जब कृष्ण को लेकर खड़े होते हैं तो भारतीय सांस्कृतिक मानस का सामान्य स्तर स्वयमेव प्रस्तुत हो जाता है और सामान्य भारतीय को सूर के काव्य में इसीलिए आनन्द की प्रेरणा प्राप्त हो जाती है कि यह कृष्ण से सम्बन्धित है ।

मैया मेरी कर्वाहि बईसी चोटी

ऐसे शब्द कान में पड़ते ही सामान्य भारतीय का सांस्कृतिक मानस इन शब्दों के सामान्य अर्थ से उत्प्लुत नहीं होता, वह उत्प्लुत होता है इसलिए कि उसके कृष्ण अपनी माँ यशोदा से कह रहे हैं कि 'मैया मेरी कर्वाहि बईसी चोटी' । कृष्ण के विषय में उसकी जो सामान्य सांस्कृतिक धारणा है वह सांस्कृतिक उत्तराधिकार के कारण बहुत ही 'सबलाइम' अवस्था भव्य है और जब वह उस भव्य कृष्ण को सामान्यातिसामान्य बालक की तरह माँ से चोटी के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए सुनता है तो एक विद्रुपता सी विसायी पड़ती है । वह आश्चर्य के साथ ही सबलाइम से रिबीक्यूलेस के भाव से बकाक होते-होते भव्य के उस कौतुक से आनन्द विमोह हो उठता है क्योंकि वह भव्य केवल कृष्ण नहीं वह उसका निर्माता

सक और सहर्ष भी है। वह जब इस प्रकार भी से बात करता तो ओठा उसी ढँगी आनन्द से आनन्दविभोर हो जाता है। वह मय्य से विद्रूप में अवतरण का स्पष्ट उल्लेख तटस्थ भाव से हमें करने ही स्वप्नों पर बलदाक करते बिखायी पड़ते हैं। जब वे 'हाऊ' से कृष्ण को भयभीत देखकर हँसते हुए कहते हैं —

जब डरपट सुनि-सुनि ये बातें, कहत हँसत बलदाक,
सप्त रक्षास्र सेपासन रहे, तबकी सुरति भुकाक।
चारि देव लं गयो सखासुर जल में रह्यो सुकाक,
मीन रूप धरि कं जब भाद्यों, सबहि रहे कहें हाऊ।

(२२१। ८३६—)

यह आश्चर्य बल्बेव का नहीं सुरदास का ही है। स्वयं सुर कहते हैं—

इसो अद्भुत अवगति को मति
कंसो रूप धर्यो ऐ (हो) तीन सोक जाके उबर भवन।
सो सुम के कौम पर्यो ऐ (हो)

.. ..

जाकी ध्यान न पायो सुरमूनि संमु समाधि न टारी (हो)
सोई सुर प्रमटि या ब्रज में गोकुल गोप बिहारी (हा)

(१२८ ७४६)

ऐसे आश्चर्य-भावान्वित पद सुरदास में पग-पग पर बिद्यमान हैं जिससे सामान्य सांस्कृतिक मानस की सामान्य पुष्टमूर्ति प्रत्येक पद के साथ ही बिद्यमान प्रतीत होती है। इसी भारतीय सांस्कृतिक मेधा की दूसरी सीढ़ी पौराणिकता है। भारतीय संस्कृति पौराणिक कथाओं के जाने-जाने से ओतप्रोत है। और जब तक ये पौराणिक तन्त्र किसी न किसी रूप में प्रस्तुत न हों, भारतीय मेधा का सन्तोष नहीं हो सकता। सुरदास ने अपने पदों में इस पौराणिकता का भी पूरा आदर किया है। इस पौराणिक तत्त्व के समावेश से उनकी कला को एक विशेष अमत्कार भी प्राप्त हो सका है। कृष्ण का शैक्षिक वर्णन करते-करते वे उनके बिष्णुत्व की ओर संकेत करने लग जाते हैं और बिष्णु-पराक्रम के द्वारा वे

भारतीय सांस्कृतिक मेधा की धीराणिता को प्रसन्न और भाङ्गा दित कर देते हैं । ऊपर कला के मर्म में इस विष्णुत्व की भाँकी से जो प्रभाव और सौनी वेष्टिय अथवा कथम की विशेषता का अवभूत गुण उपलब्ध हुआ है उस पर विचार किया जा चुका है । इस भारतीय सांस्कृतिक मेधा का सीसरा स्तर सामान्य सांस्कृतिक दार्शनिकता है । इस सामान्य सांस्कृतिक दार्शनिकता का अभिप्राय यह है कि कृष्ण अथवा विष्णु जीवन की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करत है जिससे भारतीय जन मन एक सौदिक आनन्द भी प्राप्त करता है । इसलिए कि वह यह मानता है कि कर्ता, वर्ता, हर्ता की उपलब्धि उन्हें इन काव्य प्रस्तुतियों से उसी प्रकार हो रही है जिस प्रकार यशोदा को कृष्ण की उपलब्धि से हुई थी । प्रत्येक पद इन तीनों सांस्कृतिक सीढ़ियों को समीकृत किये रहता है । कहीं स्फुट, कहीं अस्फुट कहीं वाक्यार्थ से कहीं लक्ष्यार्थ से, कहीं व्यंग्यार्थ से । यही कारण है कि भारतीय संस्कृति से सम्पन्न किसी भी कोटि की मेधा हो, वह सूर के पदों में अपने अनुकूल सामग्री और उसमें आनन्द का तत्व प्राप्त करती है क्योंकि सभी तत्त्व कृष्ण की ओर प्रभावित ह जो आनन्द का उत्स है और उसको कवि ने ऐसे सामान्य और विशिष्ट भारतीय सांस्कृतिक मानस के अनुकूल वाणी में प्रस्तुत किया है ।

भारतीय मेधा के मनोवैज्ञानिक प्रातिम तत्व—

इन सांस्कृतिक उपादानों को ही सूरदास ने कलात्मक धाली में अन्वित नहीं किया उसने भारतीय मेधा और भारतीय प्रतिभा को अपनी कला के द्वारा प्रस्तुत किया है । भारतीय प्रतिभा क्या है ? समस्त भारतीय मानसिक संस्थान कोषों में विश्वास करता है और उन कोषों के अनुकूल ही वह मनोविज्ञान का संस्थान खड़ा करता है । प्रत्येक कोष का मानसिक संस्थान से कंसा और क्या सम्बन्ध है इसको यहाँ दिखाने का अवकाश नहीं ।^१ किन्तु भारतीय प्रतिभा का यह एक वैशिष्ट्य है जिसको उचित महत्व दिखाना चाहिए । सूरदासजी अपनी प्रतिभा से इस भारतीय प्रतिभा को प्रस्तुत करते दिखायी पड़ते हैं । उनके समस्त काव्य में हमें अन्नमय

^१ इसी छंद-छंद समयकी के लिए लेखक की 'कला, कथना और साहित्य' नामक पुस्तक में से अन्तमा विषयक विषयक पद लेने चाहिये ।

‘क्रोप, प्राणमय कोप, मनोमय कोप, विज्ञानमय कोप और आनन्दमय कोप की विविध वैज्ञानिक स्थितियों के वर्णन होते हैं। कृष्ण के जन्म सत्कारों में अन्नमय कोप का स्थूल, मध्य किन्तु प्रतिभा पूर्व चित्रण है। जहाँ एक ओर उसमें हमें जन्म के समस्त सत्कारों का उत्सव मिलता है और दूसरी ओर सांस्कृतिक उपादानों की तीनों सीढ़ियों का उत्सव मिलता है वहीं कायिक सौन्दर्य और कायिक क्रियाओं और कायिक मनोविज्ञान का समोच्च भी मिलता है। वास्तविक मनोविज्ञान का ऐसा रूप सूर में है वैसा क्या अन्यत्र सुलभ है। यह सब अन्नमय कोप की सामग्री है जिसे कवि ने उसके समस्त मनोविज्ञान के साथ प्रस्तुत कर दिया है। तब उसके प्राणमय कोप के वर्णन हमें हाते हैं। वात्स्यायना को पार कर किछोर अवस्था में पड़ापन करने पर कृष्ण की जो क्रीड़ाएँ दिख लगी पड़ने लगती हैं वे कितनी प्राणवान हैं। उनकी वास्तविक व्याख्या और उनके वास्तविक सौन्दर्य का साक्षात्कार प्राणतत्त्व के सौन्दर्य का साक्षात्कार है। प्राणतत्त्व ही सीलाकर है। और कृष्ण की समस्त क्रीड़ाएँ इसी प्राणतत्त्व से समन्वित और उद्भूत हैं। प्राणतत्त्व से अन्नमय कोप में जो मनोविज्ञान प्रस्तुत होता है वह इन सीलाओं में सूर ने व्याप्त कर दिया है और जब इन सीलाओं से ऊपर उठ कर कृष्ण का भाव समन्वित हाते हैं, गोपी और राधा जब नारी तत्व का रूप गृहण कर लेती है और जब स्वयं कृष्ण में यह निष्ठासा पैदा हो जाती है—

बुझत स्याम कौन तू गोरी

तब जैसे प्रपञ्च के विस्तार में से शिव स्वयं ही अपनी सिसुच्छा चीन शक्ति को देखकर उससे पूछते हैं—‘बुझत स्याम कौन तू गोरी’। और तब इसी पद की उन दो बातों पर ध्यान जाता है जब राधा के रूप में जैसे शक्ति कहती हो—

बाहे को हम ब्रज तन आवत, लेकत रहत आपनी पीरी ।

सबनन सुमय रहत नैव डोना करत रहत माखन बधि चोरी ।

सूर ने एक ओर कृष्ण की तांत्रिक मूल शिवत्व से संयुक्त करके यहाँ खड़ा कर दिया है। कृष्ण मक्खन और वही चुराते हैं। मक्खन और दही क्या है? गोपियों के परिधम का परिणाम और गोपियों? यों साम्प्रदायिक व्याख्या से इन्हें अन्धारे कहा जा

सकता है किन्तु राधा ने आकर उन गोपियों को कुछ और ही महत्त्व प्रदान कर दिया है । राधा जैसे मूल शक्ति है और गोपियाँ जैसे उसी शक्ति की सिसुच्छासीन विवृति हैं । शक्ति ने जो सृष्टि लक्ष्मी की है उसके मासम और दही को, उसके समस्त आनन्द को अपहृत कर लसे हैं शिव या कण्ठ , और कण्ठ अन्न में यही काम करते हैं, और सभी इन पंक्तियों पर ध्यान आता है—

तुम्हरो कहा चारि हम सी हैं

क्या यह ठीक नहीं है ? मला शक्ति का ऐसा क्या है जो शिव के द्वारा चुराया जा सके । शिव का ही तो एक तत्त्व शक्ति है । अभिप्राय यह है कि यहाँ इस काम की भूमि पर पहुँच कर राधातत्त्व और गोपी तत्त्व से समन्वित होते ही प्राणमय कोप की सीलाएँ ज्ञानमय कोप की प्रक्रिया में परिणति पाने लगती हैं और संयोग की समस्त स्थिति इसी ज्ञानमय कोप की मनोवैज्ञानिकता (यदि उसे मनोवैज्ञानिकता कहा जा सके) तो उसे प्रकट करती है । क्योंकि इस ज्ञानमय कोप के स्तर पर पहुँच कर भाव का इतना गहरा अन्तर्मुख विश्राम साथ में आता है कि ज्ञानमय कोप के मयार्थ मनोविज्ञान विषयकतत्त्व सहज ही दृष्टि पथ में नहीं आ सकता । मनोविज्ञान ही नहीं मनोविस्मरण से भी ऊपर की स्थिति से उसका सम्बन्ध है जिसे भारतीय भेषा ही अनुभव कर सकी है ।

संयोग के बाद वियोग की स्थिति में विज्ञानमय कोप का तत्त्व प्रस्तुत हो जाता है । कण्ठ अब साकार रूप में गोपियों और राधा के समक्ष नहीं है । अब उनकी उपलब्धि खरोर प्राण और मन से नहीं हो सकती । यह उपलब्धि तो अब विज्ञानमय कोप से ही समभव है । इस विज्ञानमय कोप में ही वे तत्त्व होते हैं जो मनोपरि अनुभूति से संयुक्त हैं । अनुभूति की दो धारामें हैं एक संपर्की दूसरी अपसर्की । संपर्की धारा विज्ञानमय कोप से युक्त है । यहाँ वह चौहट हाट है जहाँ योगी अपना आसन जमाता है और जिसका उल्लेख बगीर में अनेक बार किया है, जहाँ पर धौराहा है और जहाँ से नीचे जाने का भी मार्ग है और ऊपर चढ़ने का भी । यहाँ बुद्धि-व्यापार रुक जाता है क्योंकि बुद्धि का शरीर प्राण और मन से बाहर लेन नहीं हो सकता । गोपी जिस स्थिति को विविध मौगिक प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त करता है वह भक्त की

योपी भाव की वियोग-उपलब्धि से प्राप्त हो जाती है । इसीलिए समस्त वियोग की उपलब्धि विज्ञानमय कोप के अनुमति तत्वों से सूरदास ने प्रस्तुत की है । विज्ञानमय कोप का स्पष्ट करते समय कवि के माय को भूमि दुविधा के स्तर पर पहुँचती है कि अब क्या अनुमति हो सकती है । अब साकार कृष्ण नहीं तो क्या उनका निराकार रूप ग्रहण हो सकता है ? अब या साकार के द्वारा ही इस विज्ञानमय कोप की स्थिति प्रस्तुत हो सकती है ? इसी दुविधा को दूर करने के लिए 'भ्रमरगीत' की उद्भावना हुई । 'भ्रमरगीत' में कवि ने सोचा कि छात्रो योपियों को निराकार का ही अवलम्ब दिया जाय । किन्तु देखा गया कि ऊर्ध्वपामी योपी भाव निराकार को एक दम त्याग देता है उसकी भर्त्सना भी करता है और साकार की विज्ञानमय स्थिति से उद्भूत भक्त्यानुमति के प्रबल वेग में वह निराकार की बौद्धिक क्रिया बह जाती है अर्थात् विज्ञानमय कोप का सम्पर्क छोर मन के सपर्क से विलग हो जाता है । और तब वियोग समाप्त और गोपियों का आनन्द कोप उमर पड़ता है जिसका चरम वहाँ पहुँचता है जहाँ राधा 'हरि' बन जाती है । साकार का साकार में यह सायुज्य भक्ति के सायुज्य का सुन्दर काव्यमय प्रतीक है जिससे महत् स्थिति की कल्पना सत्य का साकार और साकार को सत्य मानने वाला दृष्टि कोप में नहीं हो सकती । सूरदास के काव्य में इन पक्षों का जो संयोजन प्रस्तुत हुआ है वह काव्य की समग्र कथावस्तु के पर्यवेक्षण से ही प्रकट नहीं होता बरन यह जैसे प्रत्येक दायरे में पाँचों कोपों की स्थिति है उसी प्रकार अमिथा रक्षण, व्यंजना, तात्पर्य और अनुमति इन पाँचों सीढ़ियों से प्रत्येक पद में परिपूर्ण दिखायी पड़ता है जिसे कोई भी समर्थ वाणी का उपासक देन सकता है । यह कवि की भारतीय मेधा का प्राविभ स्वस्थ सूरसागर में प्रस्तुत हुआ है । कोई भी सहृदय इसमें कवि के कोशल पर उतना मुग्ध नहीं होगा जितना इस समस्त कोप समुदाय की काव्यमय रसमय सयुक्ति के सौन्दर्य से । यह तो हमने व्याख्या की दृष्टि से ऐसे वैज्ञानिक पाठों का प्रयोग किया है । किन्तु वास्तविक बात यह है कि 'सूर' के काव्य के पद-पद में आनन्द-प्राप्ति और निरन्तर उसकी वृद्धि से उपलब्ध होती हुई व्यापारिकता किसी भी अनुमती के लिए इसका प्रमाण है ।

लोक-मेधा—

कवि ने इन उज्ज्वलतरंगीय तत्त्वों को ही अपनी प्रतिभा की सामर्थ्य से गुम्फित नहीं किया, उसने इस सस्कारी मानस और उस मानस की प्रतिभा के हृदय में लोक-मेधा का उमेष भी रखा है। सूरसागर की जनघाणी दीपक अध्याय में हम सूर-काव्य के जनघाणी रूप की किञ्चित् गहरी पा चुके हैं। किन्तु इस समस्त काव्य के हृदय में पठ कर हमें जो मूल स्रोत दिखायी पड़ता ठ वह ही मूल स्रोत है जोकि मनुष्य की सहज और आदिमवृत्ति से संबंधित है। भक्ति-तत्त्व स्वयं ही लोक-मेधा का तत्त्व है और उस तत्त्व का संयोग कथा-तत्त्व से सूर ने करने की चष्टा की है। कथावृत्ति भी मौलिक लोक-वृत्ति है। फलतः हृदय का भाव और कथा पद-पद पर सूर के काव्य को पोषित किये हुए है। सूर ने इसी कारण लोक-मानस की अनुकूलता निरन्तर बनाये रखी है। गोप और गोपियों की जितनी भी युक्तियाँ और तक है, उन सब में चष्टा पूर्वक मनीषी तत्त्वों का निवारण किया है। यह बात 'अमरगीत' में सिद्धान्ततः भी स्पष्ट हो जाती है —

- १ समुक्ति न परे तिहारी मधुकर, हम अज नारि गँवारि
(मा० प्र० ३६०६, ४५२७)
- २ अवलमि कोँ लुम ओग सिसावत, कहत नहीं पछतात
(३६२२ और ४५४०)
- ३ हम अवधिबह ओग जानें, समय हमसों सेह
(३६२३, ४५४१)
- ४ अवला सार ज्ञान कह जानें, कसे ध्यान धराहीं
- ५ मधुकर निर्गुन ज्ञान तिहारो,
हम अवला भति की सब भोरो, सहज गुपल उपासी
(३६२९, ४५४४)
- ६ अनि अगाध धुति वचन भगोचर
भमसा तहाँ न जाई ।
(३६३१, ४५४६)

मादि ।

और यही कारण है कि बनेकों प्रकार की सीछाओं में वद मानस नहीं शोकमानस व्याप्त दिखायी पड़ता है । और यही कारण है कि मूर के शायों में शोक-गीतों का भी स्वर पूनता दिखायी पड़ता है ।

जनवाणी—

मूर के काव्य की जनवाणी के विषय में कुछ वर्षों ठगर एक निबन्ध में हो चुकी है । यहाँ हमें इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि मूर को प्रतिभा ने मुनिमानस, शोकमानस और जनमानस को अपने काव्य में अनेक भाव से प्रस्तुत कर दिया है । इससे मूर के काव्य में मानस की समस्त विस्तृतियाँ समा गयी हैं और उनका काव्य सामान्य और विविष्ट के वैषम्य की सहज समन्विति के बहुमूल सौन्दर्य को उद्भाषित करता है । सत्कारी मानस का शोकमानस-समूह उपादान शोक-महा से आवृत होकर जनवाणी में मुखर हुआ है । यही कारण है कि यह जनवाणी मूरदास का बन गयी है और उन सबके लिए जो जो मूरदास की भाँति मुद्रावृत पक्ष से मक्ति के काव्य में आत्म-परिणति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

साम्प्रदायिक तत्व—

और यही मूर में हमें एक और वैशिष्ट्य दिखायी पड़ता है । यह है—अपने काव्य में साम्प्रदायिक तत्व का समावेश । मूर का काव्य सम्भवतः बारम्भ में विनय-परक साहित्य था जिसमें भगवान से चीन होकर पापों के मात करने और मुक्ति प्राप्त करने की वाचना की गयी थी । इस प्रकार की विनयों की एक छन्दो परम्परा हमें हिन्दी साहित्य में मिलती है । भगवान है और उसका जन है । जन नितात शक्तिहीन है । माया और प्रपञ्चों में पिरा, बनेक तपों से तापित उसके उद्धार का एक मात्र मार्ग भगवान है । जन भगवान से दोनता पूर्वक ही अपनी बात कह कर मुक्ति और संकट-हरण की वाचना कर सकता है । यह एक वास्तविक की सामान्य भावभूमि है जिसमें मक्ति की अपनी मक्ति और शान्तिक सात्विकता तथा माध्यात्मिक निष्ठाओं के आधार पर शायों में विविध प्रकार के रूपरंज भर जा सकते हैं और

लोक-मेधा—

कवि ने इन उज्ज्वलतरंगीय तत्वों को ही अपनी प्रतिमा की सामर्थ्य से गुम्फित नहीं किया उसने इस सत्कारी मानस और उस मानस की प्रतिमा के हृदय में लोक-मेधा का उन्मेष भी रखा है। सूरसागर का जनबाणी शीर्षक अध्याय में हम सूर-काव्य के जन बाणी रूप की किंचित भीती पा चुके हैं। चिन्तु इस समस्त काव्य के हृदय में पठ कर हमें जो मूल स्रोत दिखायी पड़ता है वह ही है। भक्ति-सत्त्व स्वयं ही लोक-मेधा का तत्व है और उस तत्व का संयोग कथा-सत्त्व से सूर ने करने की चेष्टा की है। कथावृत्ति भी मौलिक लोक-वृत्ति है। फलतः हृदय का भाव और कथा पद-पद पर सूर के काव्य को पोषित किये हुए है। सूर ने इसी कारण लोक-मानस की अनुकूलता निरन्तर बनाये रखी है। गोप और गोपियों की जितनी भी युक्तियाँ और तर्क हैं उन सब में चेष्टा पूर्वक मनीषी तत्वों का निवारण किया है। यह बात 'अमरगीत' में सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाती है —

- १ समुक्ति न परे तिहारी मधुकर, हम ब्रज नारि गैवारि
(भा० प्र० ३६०६, ४५२७)
- २ अबलनि कों तुम जोग सिलावत, कहत नहीं पछतात
(३६२२ और ४५४०)
- ३ हम अबधिकह जोग जानें, समय हमसों लेहु
(३६२३, ४५४१)
- ४ अबला सार ज्ञान नह जानें, कैसे ध्यान बराही
- ५ मधुकर निर्गुन ज्ञान तिहारी,
हम अबला मति की सब भोरी, सहज गुपाल उपासी
(३६२६, ४५४४)
- ६ अति अगाध श्रुति वचन अगोचर
ममसा तहाँ न जाई ।
(३६३१, ४५४६)

मादि ।

और यही कारण है कि अनेको प्रकार की सीलाओं में वेद मानस नहीं लोकमानस व्याप्त दिखायी पड़ता है । और यही कारण है कि सूर के गीतों में लोक-गीतों का भी स्वर गुञ्जता दिखायी पड़ता है ।

जनवाणी—

सूर के काव्य की जनवाणी के विषय में कुछ वर्षों ऊपर एक निबन्ध में हो चुकी है । यहाँ हमें इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि सूर की प्रतिमा में मुनिमानस, लोकमानस और जनमानस को अपने काव्य में अद्वैत भाव से प्रस्तुत कर दिया है । इससे सूर के काव्य में मानस की समस्त विस्तृतियाँ समा गयी हैं और उनका काव्य सामान्य और विशिष्ट के वैषम्य की सहज समन्विति के अद्भुत सौन्दर्य को उद्भावित करता है । सत्कारी मानस का बौद्धिक ज्ञान-समुद्र उपादान लोक-महासं आवृत होकर जनवाणी में मुसर हुआ है । यही कारण है कि यह जनवाणी सूरदास का वेद बन गयी है और उन सबके लिए भी जो सूरदास की भाँति सुझावित पक्ष से भक्ति के काव्य में आरम्भ परिणति का वास्तविक मानस प्राप्त कर सकते हैं ।

साम्प्रदायिक तत्त्व—

और यहीं सूर में हमें एक और वैशिष्ट्य दिखायी पड़ता है । यह है—अपने काव्य में साम्प्रदायिक तत्त्व का समावेश । सूर का काव्य सम्मिलित आरम्भ में विनय-परक साहित्य था जिसमें भगवान से दीन होकर पापों के नाश करने और मुक्ति प्राप्त करने की याचना की गयी थी । इस प्रकार की विनयों की एक लम्बी परम्परा हमें हिन्दी साहित्य में मिलती है । भगवान है और उसका जन है । जन नितांत दासितहीन है, माया और प्रपञ्चों में घिरा, अनेक तापो से तापित उसके उद्धार का एक मात्र मार्ग भगवान है । जन भगवान से दीनता पूर्वक ही अपनी बात कह कर मुक्ति और सकट-हरण की याचना कर सकता है । यह एक आस्तिक की सामान्य भावभूमि है जिसमें भक्त की अपनी भक्ति और धार्मिक सार्विकता तथा आध्यात्मिक विस्थापनों के आचार पर भावों में विविध प्रकार के कपरंग भरे जा सकते हैं और

कवि के भाषाबिकार के फलस्वरूप शक्ति में दुर्बल अथवा प्रबल हो सकते हैं। सूर ने जब तक ऐसे विनय के पदों की रचना की तब तक वे एक सामान्य अनुभूति से ही सम्युक्त थे और उनके पदों में जो रस मिलता था वह भाव की शक्ति पर निर्भर नहीं था, कवि की शक्ति पर निर्भर था। किन्तु बल्लभाचार्यजी के सम्पर्क में आने पर कवि के जीवन-दर्शन में आमूल परिवर्तन हो गया। उसने साम्प्रदायिक स्वरूप को समझा। साम्प्रदायिक अध्ययन, उसकी प्राप्ति का मार्ग और सम्प्रदाय की मान्यताएँ सभी इस महाकवि को अनायास ही काव्यमय प्रतीत हुईं। यही कारण है कि बल्लभाचार्यजी द्वारा लीला का ध्येय बताया जाने पर, उनके काव्य ने अनायास ही नई दिशा ग्रहण कर ली। अब तक जो भगवान दूर बैठे हुए थे वे उनके बीच में आ उपस्थित हुए। अब भक्त और भगवान में कोई अन्तर नहीं रह गया। अब सूर में जहाँ ऊपर के समस्त स्तर मिलते हैं वहाँ यह साम्प्रदायिक स्तर भी मिलता है। कृष्ण वैष्णव ब्रह्म हैं। यह सूर को सम्प्रदाय ने दिया है। और इस साम्प्रदायिक दान ने उनकी काव्यकला में एक चरुचिम्नोपमता प्रस्तुत कर दी है। यह काव्य की एक नई टेक्नीक अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से सूर में प्रस्तुत हुई है। कृष्ण की लीलाओं को कवि ने इस प्रकार लिखा है मानो वे ठीक उसके सामने घट रही हों और मानो कवि उनका साक्षात् दृष्टा है। कृष्ण की लीलाओं के साक्षात् दर्शन का यह विधान भी कवि को सांप्रदायिक सिद्धान्त से ही प्राप्त हुआ। वह कृष्ण का सखा है और वह सत्य है तो कृष्ण भी सत्य है। अब कृष्ण ने जब जो लीलाएँ की हैं वे सब उसे इच्छा करने पर साक्षात् दिखलायी पड़ सकती हैं। वह सखा ही नहीं अन्तरंग लीलाओं के लिए सखी भी है। सम्प्रदाय के इस अंग्रेज ने कृष्ण की अन्तरंग लीलाओं का साक्षात्कार करने की दृष्टि भी सम्प्रदाय ने प्रदान की। सूरदास और बल्लभ सम्प्रदाय के समस्त अनुयायियों के लिए वह एक अत्यन्त सहज विश्वास की वस्तु थी और इसी लिए सूरदास और उनके परिकर के कवियों ने अपना समस्त जीवन अपनी और भगवान की लीलाओं के साक्षात्कार के प्रयत्न में ही व्यतीत कर दिया। यह दृष्टि जो सूरदास को मिली उससे कवि ने भगवान को यथार्थ रूप में चित्रित करने की चेष्टा की जिससे—

कीन्हेउ सुलम सुषा बसुषाहू

जिससे यह यथार्थ ही जो मायावादियों द्वारा मिथ्या समझा जाता था कण्यत्व और ब्रह्मरूप से ओतप्रोत हो उठा। यही नहीं कि सूरदासजी उस कण्य-ब्रह्म के सत्ता हों जिससे अग्नि-स्फुलिंगवत् आत्मा के रूप में वे कभी पुष्पक हुए थे। वरन् वे यथार्थ में कण्य के सत्ता हैं जो बल्लभाचार्य के रूप में उनके समस्त अवतीर्ण हुए हैं और बल्लभाचार्यजी के पुत्र भी कण्य ही हैं और उनको समस्त सीलाएँ कण्य-सीलाएँ ही हैं और उनको देख सकती हैं सूर की आँखें ही। इस दृष्टि ने यथार्थ को कण्य और कण्य को यथार्थ बना दिया है जिससे काव्य के रूप और आत्मा दोनों में अद्वैत और सादात्म्य स्थापित हो गया है। ऐसे सादात्म्य की उपलब्धि सूर के अतिरिक्त और किसी कवि में पूर्णता के साथ नहीं मिलती। मीराबाई में मिलती है पर वह एक पक्षीय है। ब्रजभाषा, ब्रजभूमि कण्य और गोपी य सभी जिस रूप में सूर में प्रस्तुत हुए हैं सम्प्रदाय की देन हैं। इन सभी के कारण सूर के काव्य को काव्यत्व प्राप्त हुआ है क्योंकि सम्प्रदाय वात्सल्य और मृगार के भाव्यम से प्रेमाशक्ति का पोषक है। इसलिए सूर में हमको वात्सल्य और मृगार के वे उत्कृष्ट दर्शन मिलते हैं जिनसे अष्ट दर्शनों की हम कल्पना कर ही नहीं सकते। सूरदासजी का काव्य सम्प्रदाय के लिए एक और दृष्टि से भी अमूल्य है। वह दृष्टि यह है कि साम्प्रदायिक अनुष्ठान के वधवर्ती उन्हें अपने इष्टदेव का नियमित रूप से विविध अवसरों पर साक्षात्कार करना होता था और उनके कीर्तन में अपनी अनुभूति को स्वर प्रदान करना होता था। सूर के प्रत्येक पद में ऐसे कवि की अनुभूति साकार सजी हो गयी है और उस कवि की अनुभूति धरी हुई है जो उनका अंतरंग सत्ता है जो उनके दर्शनों का आनन्द और सीलाओं का आस्वाद्य प्राप्त कर रहा है। किन्तु नहीं सूर इससे भी आगे चले जाने की क्षुब्धता दिखाते हैं। वे जैसे ठाकुर और ठाकुरानों में समा गये हैं और जैसे स्वयं ठाकुर और ठाकुरानी ही अपनी बात सूर के मुख से कहलाने लगे हैं। वे ठाकुर और ठाकुरानी जो कि साकार कण्य रूप में ब्रह्म हैं, जो इस साकार तत्त्व को दिव्य ब्रह्मत्वमय किय हुए हैं। सूर में यह स्पष्टि जितनी सहज और दिव्य रूप में उद्भासित हुई है उतनी किसी अन्य में नहीं दिखलायी पड़ती।

सार्वजनीन सामान्य सत्त्व—

यहाँ तक हमने सूर के काव्य में जिन सौन्दर्य चिरणों के दर्शन हुए हैं उनका मूल स्वरूप भारतीय मानस को पूर्ण सन्तोष देते हुए सार्वजनीन स्तर पर भी पहुँच जाता है। कारण स्पष्ट है कि सूर ने यथार्थ का पक्का पकड़ कर पकड़ लिया है। सूर के कव्य वास्तविक बालक हैं। कव्य की माता वास्तविक माता हैं। समस्त पात्र वास्तविक हैं पूर्णतः वास्तविक, मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के साथ। इसलिए यदि एक क्षण के लिए यह भूल जाया जाय कि वे एक कव्य कव्य हैं और केवल इतना मात्र समझा जाय कि वे एक सामान्य घर में पैदा होने वाले बालक हैं अथवा एक नटसट किछोर हैं तो सूर के काव्य को कोई आघात नहीं पहुँचता। इस सामान्य स्तर की उपस्थिति के कारण ही हमें सूर में वास्तविक मनोविज्ञान प्रेम-मनोविज्ञान के ऐसे दर्शन होते हैं जो यथार्थ चित्रण में भी रसोपरिपूर्ण हैं क्योंकि कवि ने यथार्थ के तन्तुओं में मधुर सन्तुष्टि की व्यञ्जना माया का शास्त्र के साथ भर दी है। इस कारण सूर के काव्य में एक सहज सौन्दर्य और एक सहज आनन्द पाये जिस पाठक का प्राप्त होता है।

सार्वजनीन मानस की प्राथमिक अभिव्यक्ति—

यथार्थ के तन्तुओं को रस और सुघरता से संयुक्त करके कवि ने अपने काव्य को जो सार्वजनीन स्तर प्रदान किया है वह तो स्थापनीय है ही किन्तु उसके साथ ही जिस विशिष्ट प्रतिभा का सार्वजनीन रूप उन्होंने गुंथा है वह तो और भी अभिनन्दनीय है। उस यथार्थ को प्राथमिक रूप देने के लिए कवि ने जिन साधनों का प्रयोग किया है, वे हैं—अनुमति के यथार्थ को बौद्धिक आश्रय से संयुक्त करके दोनों के वैषम्य में से सार्वजनीन अनुमति की विजय की घोषणा। सार्वजनीन अनुमति के यथार्थ चित्रण को रसमय रूप कोई भी दे सकता है किन्तु उसके साथ ही बौद्धिक प्रक्रिया और प्रतिक्रिया को उसजित करके उसका अनुमति के आनन्द के समक्ष कूटित कर देने की शक्ति और उसमें भी कुछ की वक्रता मायब से युक्त रह जाय ऐसा प्राथमिक स्वरूप महाकवि सूर ही प्रस्तुत कर सका है। और चाहे जहाँ इसने उदाहरण सूर के काव्य में मिल सकते हैं। इसी प्रतिभा के परिणाम स्वरूप

उनके काव्य में एक अनोखी विनोदात्मकता आ गयी है। वे बौद्धिक उपादानों से विनोद करते हैं और उन्हें मनोमय कोप तक की वस्तु समझ कर पीछे धाड़ विमान और आनन्दमय कोप तक ऊपर उठते चल जाते हैं जिससे बुद्धि और ज्ञान के उपादान बौने होकर अनुभूति के उस सहस्रशील भूत को देखकर पहले शक्ति भयभीत होते हैं और फिर उस भूत से संवेदनशील आश्वासन पाकर आदवस्त होता है और आश्वासन के आनन्द पर ही टिक रहते हैं। कृष्ण पर आरोप लगाया गया है कि उसने छौंके पर स भावन बुराया है और सब कृष्ण पूरे बौद्धिकता के साथ कहते हैं—

मैं वास्तव बौद्धिकता की छोटी छौंकी किहि विधि पायी ?
सथा—

भोर भयी गैरान के पाछे मधुवन मोहि पठाया ।

यह बौद्धिक प्रवृत्ति शब्दों में बघ कर रह जाती है और इसमें से कृष्ण दोषी होते हुए भी जिस प्रकार सबक हृदय पर बिजय पाते हुए दिखाने पड़ते हैं वह सूर की वाणी से ही ध्वनित हो सकता है। यह सूरदास की सार्वजनीन प्रतिभा का संयोजन सूर की विश्व साहित्य में भी अद्वितीय स्थान दिखाती है। अभी खद यह है कि उनकी इस प्रतिभा का सम्यक अध्ययन और मनन नहीं हुआ और उसके रूप का अभी तक ठीक नहीं समझा जा सका है।

साहित्य और कला के स्तर की स्वीकृति—

यही वे तत्त्व हैं जिनकी उपलब्धि के कारण सूर का साहित्य में इतना ऊँचा स्थान मिला गया है। ऊपर जिन तत्त्वों का उल्लेख हुआ है वे भी साहित्य के आन्तरिक उपादानों में सम्मिलित होंगे। किसी भी काव्य को महत्ता और उसकी भी बिना ऊपर के तत्त्वों के नहीं समझी जा सकती। किन्तु अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अनुभूति की सौष्ठव और संप्रपञ्चिता प्रदान करने वाले तत्त्वों का अध्ययन भी आवश्यक होता है। सूर के काव्य में इन तत्त्वों का जो रूप मिलता है वह बहुत ही ऊँचे स्तर का है। इन अभिव्यक्ति के उपादानों में निश्चय ही जिन हो स्तर होते हैं जिनमें सबसे निचला स्तर यह होता है जिसपर सबीपसम्पादक होता है। किन्तु एक प्रतिभावान महकवि अभिव्यक्ति के इन उपादानों को उस स्तर

प्रस्तुत कर सकता है जिस पर प्रत्येक अक्षर और उसका प्रत्येक स्वर, उनसे निकलने वाली ध्वनि उनसे प्रस्तुत होने वाले चित्र, उनमें व्याप्त मनोस्थिति उनके प्राण और उनका अध्यात्म सभी एक इकाई बन कर प्रस्तुत हों, साहित्यिक सुपमा से जगमगा रहे हों।

साहित्यिक दृष्टि से देखने पर हमें विदित होता है कि सूर शब्द संयोजना और अक्षरों के द्वारा मध्य मनोचित्र उपस्थित कर देते हैं और उसमें गति और प्राण भरते हुए रस स्पर्श के द्वारा अध्यात्म की ध्वनि भी प्रतिष्ठित कर देते हैं। उनका मापा पर प्रबल अधिकार प्रतीत होता है। सुन्दर से सुन्दर उपयुक्त से उपयुक्त शब्दों का प्रत्येक स्थल पर उपयोग हुआ है और वे प्रसादमय तो सर्वत्र ही हैं स्थान-स्थान पर सींठव और शक्ति के अनुसार श्लोक और माधुर्य से भी अन्वित मिलते हैं। साकार के उपासक होने के कारण कवि का ध्यान रूप-सौन्दर्य के चित्रण में भी जूझ रमता है। आवि के अन्त तक इस रूप-वर्णन में हमें जो आकार प्रकार की विविधताओं के साथ वेश-विन्यास को चमक-दमक विविध रंगों का रंजन और भगिमाओं का बाँकपन मिलता है वह सब शब्दों की अपनी छटा के साथ उसे रूप-सौन्दर्य स्वयं ही मुत्तर हो उठता है और इस सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त शब्दा संसार और अर्थात्कार सचमुच ही काव्य शरीर पर वेदीप्यमान आभूषण के समान विसलामी पड़ते हैं। यह कला-सौष्ठव अद्वितीय है। एक और शरीर शोभा का सौन्दर्य है, उसका नल शिख है, उसका तीलापन और बाँकपन है उस पर सुसोभित वस्त्र और आभूषण की छवि है। इस अत्यन्त शोभाशाली शरीर पिंड के साथ लोलार्प मुद्राएँ और भगिमाएँ हैं। इनमें से छसकने वाला कोई भाव सौन्दर्य है और इन सबके साथ कवि के मूर्त आलयन के साकार सौन्दर्य शाली स्वरूप के साथ मापा के सद्युक्त सुगठन से सड़ा होता है काव्य का आकार, उसकी काया, जिसमें बिदग्ध भगी भगिति से एक विसलन तीलापन और बाँकपन छिटकता है और इस काव्य-शरीर पर भी अलवार जगमगाते विसलामी पड़ते हैं। कृष्ण के रूप का और काव्य के रूप का अपनी पूर्ण सौन्दर्य की के साथ ऐसा संयोजन अद्भुत है। और प्रत्येक रूप वर्णन में यह अन्विति परिलक्षित होती दिखायी पड़ सकती है, कभी-कभी तो वर्ण्य और अवयव का ऐसा अद्भुत गुंफन हो जाता है कि संदेहा लंकार पड़ा हाकर मानस में भी सन्देहमान उत्पन्न करते-करते

किसी मनभीते के सौम्य पर उस समस्त सन्देह को धोरकर
मुग्ध होने का आनन्द भी उपलब्ध करता है । यह पद वृष्टम्भ है ।

आजु सखी अरुणोदय मेरे नैननु को धोख भेयी
की हरि आजु पंथ इहि गबने स्याम जलद की उन्धों
की बगपांति भांति, उर पर की मुकुट माल बहु भोल
कीर्षी मोर मुदित नाचत, की बरह मुकुट की डोल
की धनचोर गैमीर प्राप्त उठि, की ग्वालनि की टेरनि
की दामिनि कौचति बहुदिसि की सुभय पीत पट फेरनि
की बनमाल कास-उर राजति, की सुरपति धनु चारि
सूरदास प्रभु रस भरि उमैगी, राधा कहति विचार
(भा० प्र० २०५८ । २६७६)

राधा के मन में कृष्ण छाये हुए हैं । प्रात उठते ही उसे प्रकृति
के उपादानों में मन में रहे हुए स्याम की घोभा झलकती प्रतीत
होती है । प्रकृति में कृष्ण नामक का ऐसा आरोप-विष सौन्दर्य
अध्यात्म का संगम तो प्रस्तुत करता ही है साहित्यिक स्तर पर
सन्देह-अलंकार के उत्कृष्ट उदाहरण के साथ शृंगार रस के पोषण
में अद्भुत रूप से उपयोगी बन जाता है । राधा आश्रय है, कृष्ण
आसवन है, प्रकृति उद्दीपन है । आलम्बन और उद्दीपन एकमेक
होकर ऐसे उपस्थित हुए कि कवि को कहना पड़ा —

‘सूरदास प्रभु रसभरि उमैगी राधा कहति विचार’ ।

रूप-सौन्दर्य, भाषा-सौन्दर्य अलंकार-सौन्दर्य भाव-सौन्दर्य और
प्रकृति-सौन्दर्य को एक साथ गुफित करके कवि ने उन्हें आध्यत्मिक
सौन्दर्य से अभिमण्डित कर दिया है । इस प्रकार सूर की काव्य-
भाषा में पद-पद पर साहित्यिक स्तर की स्वीकृति मिलती है और
इसमें साहित्य शास्त्र द्वारा अनुमोदित सभी सुन्दर और सशक्त
तत्त्व अपनी पूर्ण विविधता के साथ जहाँ-जहाँ बिखरे हुए हैं और
प्रत्येक पद में इनका कोई न कोई रूप होता जा सकता है । इस
समस्त तत्त्व की संयोजना में सूर की प्रतिभा से अद्भुत कला
का रूप अप्रतिहत लब्ध होता है ।

मानवीय अध्यात्म की अनुभूति—

सूर के काव्य में सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि उसमें उन्होंने मानवीय अध्यात्म की अनुभूति प्रस्तुत की है। काव्य, अनुभूति की ही अभिव्यक्ति होती है और वस्तुतः वह एक ही अनुभूति होती है जो अभिव्यक्ति के उपादानों की असमयता के कारण वैविध्य और विस्तार ग्रहण करता है। कवि की प्रतिभा के अनुसार इस अनुभूति के स्वर हो जाते हैं। कोई कवि रूप की अनुभूति से ही अनुप्राणित रहता है। कोई रूप के सौम्यता की अनुभूति से, कोई रूप के साथ मुद्राओं की अन्विति में अनुभूति प्राप्त करता है। कोई यति की अनुभूति से अनुप्रेरित होता है। कोई मानव की व्यवहार-कथा के दृष्ट्य को अनुभूति से प्रेरित होता है, कोई इसके आधार के अन्तर्निहित सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त करता है तो कोई मानव की मानवता तक अपनी पहुँच प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनुभूतियों के प्रकार और स्वर प्रस्तुत होते हैं। हमें विदित होता है कि सूर के कवि ने मानव के अध्यात्म से अनुभूति प्राप्त की है। साम्प्रदायिक अध्यात्म तो विविध सीमाओं में আবুत रहता है। किन्तु मानवीय अध्यात्म शुद्ध रूप से मानव के अपने सहज स्वरूप के अनुरूप उसकी उन्मुखता की महत् भावना प्रस्तुत करता है। मानव के अध्यात्म की दृष्टि से यह आवश्यक नहीं कि हम पुष्टिमात्र की दृष्टि से यह मानें कि कृष्ण ब्रह्म हैं और मनुष्य उससे उद्भूत आत्माएँ हैं कि यह मानें आत्माएँ कृष्ण ब्रह्म के साथ लीला का आनन्द ग्रहण करना चाहती हैं और उसके लिए वे गोपीभाव से अपना समर्पण कृष्ण को करती हैं, यह भी आवश्यक नहीं कि इस समर्पण के लिए गुरु की ही शरण जाया जाय। सूर के काव्य में तो 'सूर' ही उस गुरु का स्यान् ग्रहण कर लेते हैं जो मानव के आन्तरिक निर्माण में प्रस्तुत बंधनों से मुक्ति के मार्ग की ओर अपने काव्य ने प्रभाव के द्वारा अपसर करता है और अन्त में उसे शुद्ध मानव रूप में अध्यात्म भाव से अनुप्राणित कर मानवीय अध्यात्म के आनन्द में हो मुग्ध, मग्न और मुक्त छोड़ देता है। मानव के निर्माण में बितने तत्त्व और बितनी जटिलताएँ हैं जिनसे मुक्ति पाने के लिए वह छटपटाता है। उन्हीं जटिलताओं के कारण वह संसार से मुक्ति पाने के लिए विविध मार्गों की उद्भावना करता है। वस्तुतः संसार जटिल नहीं है,

ससार में उसके जटिल व्यक्तित्व का जो विस्तार है वही जटिल है और मनुष्य का यह व्यक्तित्व जटिल है मनुष्य को शिव और काम विषयक सभ्य भावना के कारण। शिव और काम का जो सभ्य मनुष्य को कमरस्त करता है और ध्वस्त करता है वह शिवत्व की विजय चाहता है पर वह समझ नहीं पाता कि काम की स्थिति को किस प्रकार समाप्त किया जाय। उसकी कल्पना में शिव के तीसरे नेत्र की बल्लि से काम जल जाता है पर जल करके भी वह फिर सजीव हो उठता है। सूर के काव्य में मानव के इस काम को पूर्णातिपूर्ण महत्व प्रदान किया गया है और उस समस्त महत्व को लेकर वह काम सूर के द्वारा खड़े किये गये शिवत्व के समक्ष लौट कर, भयभीत होकर एक घोर खड़ा हो जाता है और इस प्रकार काम विजय पूरा होती है शिवत्व चमकता है और मानवीय अध्यात्म का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। कवि को यह अनुभूति हुई कि काम विजयी द्वैत भावना के कारण होता है और द्वैत भावना की उपस्थिति में शिवत्व पिछड़ा रहता है अथवा परास्त रहता है। अतः इस काम को कोसने के लिए अद्वैत की स्थिति अनिवार्य है। किन्तु वह अद्वैत कौनसा अद्वैत होगा। क्या धार्मिक अध्यात्म से परिपोषित आत्मा और परमात्मा का अद्वैत होगा ? यह अद्वैत काम से हार कर खोजा हुआ अद्वैत है। अथवा काम की उपेक्षा का अद्वैत है। जब तक मानव अपनी पूर्णता के साथ विद्यमान है शरीर मन और बुद्धि के तत्वों से मुक्त होकर जब तक वह इनमें से किसी भी तत्व की अबहेसना नहीं कर सकता और दमन भी यथार्थ विजय का स्रोत नहीं माना जा सकता क्योंकि यह भी एक अस्वाभाविक स्थिति है जिससे मानव के शिवत्व की विजय एक अत्याचार के बस पर टिकी हुई दिखती है और इस स्थिति में मानव कभी अपने आप का मुक्त नहीं अनुभव कर सकता। अतः सूर ने समस्त मानवीय निर्माण के तत्वों का समादर किया। उन्हें सत्य समझा और इसलिए उन्होंने कहा कि इस सगुण स्थिति में जो द्वैत है वह द्वैत आत्मा परमात्मा का नहीं वह स्त्री-पुरुष का है। साम्प्रदायिक स्तर पर और दार्शनिक स्तर पर भी इस द्वैत की व्याख्या की गयी है। राधा-कृष्ण, सोताराम, रङ्गमी-विष्णु शिव-शक्ति इसी द्वैत के प्रतीक हैं और दार्शनिक स्तर पर पुरुष और प्रकृति के द्वारा यह द्वैत प्रकट किया जाता है। किन्तु जगत को मिथ्या मानने वाले सूर इस

जगत में ही उस ईत को स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं। उनका दार्शनिक कवि अपनी अनुभूति में उस अखंड सत्य को भी समझे हुए है कि यह शक्ति शिव की ही शक्ति है। मौलिक स्तर पर शिव और शक्ति में अमेद है, इसी प्रकार शरीर, मन और बुद्धि से ऊपर, जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें भी स्त्री पुरुष में भेद है और जब यह स्थिति काव्य के रसमय उपादानों से बह्मानन्द सहोदर की भाँति उपलब्ध होती है तो वही पर भी यह भेद प्रस्तुत हो जाता है। ईत अन्य काम मूर्धित हो रहता है और आनन्द का आस्वाद समस्त व्यक्तित्व को, शरीर-मन-बुद्धि को, आवृत और आक्रान्त कर देता है और काव्य के द्वारा जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो काव्य के माध्यम से ही मानवीय अध्यात्म सिद्ध हो जाता है और मानव अन्तरतः, पदार्थतः सहज चक्षुस्त्व की आनन्दावस्था का उपयोग कर सकता है। काम के ईत में प्रकृति के सुन्दर उपादान हैं। ये सुन्दर उपादान स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के रूप में भी अवतरित होते हैं। इनमें मानव का मन रमता है। ये उसे आकृष्ट करते हैं जिनसे काम भाव आवृत होता है। यह काम भाव जो कि विविध रूप से इन्द्रियों के क्षणिक सुख में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है और उस सुख से बचित करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है जो सुख सोमा और सौन्दर्य के रेह और रेही दोनों के मिला जाने से प्राप्त हो सकता है। सूर ने सोमा और सौन्दर्य का समुद्र सहरा दिया और उस सौन्दर्य को प्रत्येक अम्ब, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव, प्रत्येक क्रीड़ा, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान, प्रत्येक मानवीय उपादान में पूर्ण सोमा और भी से व्याप्त कर दिया। प्रत्येक मनोस्थिति में यह सौन्दर्य बड़ा किया। मा के मन का सौन्दर्य, पिता के मन का सौन्दर्य, भाई के मन का सौन्दर्य, मित्रों के मन का सौन्दर्य, सत्तियों के मन का सौन्दर्य, प्रेमिकाओं के मन का सौन्दर्य, प्रियतमाओं के मन का सौन्दर्य। सौन्दर्य और आकर्षण से बिलसती हुई इन अन्य वीरिणियों में से कवि धीरे-धीरे पुरुष को पमपाता है और उस आकर्षण और सौन्दर्य के रेविष्यपूर्ण पुष्प में से एक स्त्री रूप उभरता है और समस्त स्थितियों को पार करके सूर की अनुभूति का केन्द्र इन स्त्री और पुरुषों से आवृत हो उठता है और जब मनुष्य की सौन्दर्य-क्षिप्त समस्त इच्छाएँ एक दूसरे से परास्त हो जाती हैं तब कवि यों कह बैठता है—

जगत में ही उस द्वैत को स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं। उनका दार्शनिक कवि अपनी अनुभूति में उस अखंड सत्य को भी समझे हुए है कि यह शक्ति शिव की ही शक्ति है। मौलिक स्तर पर शिव और शक्ति में अमेव है, इसी प्रकार शरीर, मन और बुद्धि से ऊपर, जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें भी स्त्री-पुरुष में अद्वैत है और जब वह स्थिति काव्य के रसमय उपादानों से प्रधानम्ब सहोदर को मूर्ति उपलब्ध होती है तो वही पर भी वह अद्वैत प्रस्तुत हो जाता है। द्वैत जय काम मूर्धित ही रहता है और आनन्द का आस्वाद्य समस्त व्यक्तित्व को, शरीर-मन-बुद्धिको, आवृत और आक्रान्त कर देता है और काव्य के द्वारा जब वह स्थिति प्राप्त हो जाती है तो काव्य के माध्यम से ही मानवीय अध्यात्म सिद्ध हो जाता है और मानव अन्तरतः, यथार्थतः सहज उन्मुक्ति की आनन्दावस्था का उपयोग कर सकता है। काम के द्वैत में प्रकृति के सुन्दर उपादान हैं। ये सुन्दर उपादान स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य के रूप में भी अवतरित होते हैं। इनमें मानव का मन रमता है। ये उसे आकृष्ट करते हैं जिनसे काम भाव जन्मता होता है। वह काम भाव जो कि विविध रूप से इन्द्रियों के क्षणिक सुख में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है और उस सुख से वंचित करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है जो सुख घोमा और सौन्दर्य के देह और वेही दोनों के मिला जाने से प्राप्त हो सकता है। सुर ने घोमा और सौन्दर्य का ससूत्र सहस्र दिया और उस सौन्दर्य को प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव, प्रत्येक क्रीड़ा, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान, प्रत्येक मानवीय उपादान में, पूर्ण घोमा और भी से व्याप्त कर दिया। प्रत्येक मनोस्थिति में वह सौन्दर्य खड़ा किया। मा के मन का सौन्दर्य, पिता के मन का सौन्दर्य, भाई के मन का सौन्दर्य, मित्रों के मन का सौन्दर्य, सक्षियों के मन का सौन्दर्य, प्रेमिकाओं के मन का सौन्दर्य, प्रियतमाओं के मन का सौन्दर्य। सौन्दर्य और आकर्षण से बिसरी हुई इन बन्धु वीथिकाओं में से कवि धीरे-धीरे पुरुष को पनपाता है और उस आकर्षण और सौन्दर्य के वैविध्यपूर्ण पुञ्ज में से एक स्त्री रूप उभरता है और समस्त स्थितियों को पार करके सुर की अनुभूति का केन्द्र इन स्त्री और पुरुषों से आवृत हो उठता है और जब मनुष्य की सौन्दर्य सिन्धु समस्त इच्छाएँ एक दूसरे से परास्त हो जाती हैं तब कवि यों कह उठता है—

बिहरि ग्रंथ ग्रंथ सेति राधा
 यह कहति किंतकि घोभा करैय दयाम,
 येहि हों मानु मनु सबहि साधा
 उतहि हरि रूप की एसि नहि पार कहूँ
 बुहुनि मनु परस्पर होइ कीन्हि

(२१२८, २०४६)

और यह! स्त्री और पुरुष दोनों के अपने-अपने उत्कृष्ट तत्व परस्पर होकर से मानव के मन को मचते हुए प्रस्तुत होते हैं और काम-भाव का जो अन्तिम स्वरूप है—रति सशाम—उसमें जुट जाते हैं और यहाँ पर घोभा, सौन्दर्य शरीर का अद्वैत का समस्त द्वैत समाप्त ॥ जाता है और वह आनन्दमय स्थिति प्रस्तुत हो जाती है जिसको अनुभूति मानव के द्वैत आस्तित्व को आश्चर्यदित कर लेती है। इस स्थिति को सूर ने सम्भवतः 'मनसा' नाम दिया है और कहा—

मैन मनसा बस परयो मिटि पस आल तुरग

(२१३१ २७४६)

और इस मनसा की अद्वैतता को भाये कवि ने इस रूप में प्रकट किया है—

प्रेम हित कें और सागर, भई मनसा एक ।

(२१३२ २७५०)

इस मनसा की स्थिति में मानव की अनुभूति जब कवि के काव्य के साथ पहुँच जाती है तो काम रिपु समाप्त हो जाता है—

सूर कहै ये उभय सुमट निब

क्यों नु बस रिपु कामहि ।

(२१३० २७४८)

मानवीय अद्वैतत्व के शिखर का दर्शन यहाँ हो लेता है और तब इसी आनन्द की उपलब्धि का पोषण उन समस्त पदों में भाये होता है जो निरह के पद कहलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की अनुभूति ने काव्य को ही वह माध्यम बना दिया है जिससे उसे उस मनसा की अनुभूति हो उठे जिस मनसा में कि यह मानवीय द्वैत समाप्त हो जाता है और मानव का

जगत में ही उस ईश को स्त्री और पुरुष के रूप में देखते हैं।
 रूतका वार्शनिक कवि अपनी अनुभूति में उस अर्थात् सत्य को भी
 समझे हुए हैं कि यह शक्ति शिव की ही शक्ति है। मौलिक स्तर
 पर शिव और शक्ति में अमेद है, इसी प्रकार खीर, मन और
 बुद्धि से ऊपर, जो स्थिति प्राप्त होती है उसमें भी स्त्री-पुरुष में
 अद्वैत है और जब वह स्थिति काष्म के रसमय उपादानों से ब्रह्मानन्द
 सहोदर की भाँति उपलब्ध होती है तो वहाँ पर भी वह अद्वैत
 प्रस्तुत हो जाता है। ईश अन्य काम भूषित ही रहता है और
 आनन्द का आस्वाद समस्त व्यक्तित्व को, शरीर-मन-बुद्धि को,
 आवृत और आक्रान्त कर देता है और काष्म के द्वारा जब वह
 स्थिति प्राप्त हो जाती है तो काष्म के माध्यम से ही मानवीय
 अभ्यात्म सिद्ध हो जाता है और मानव अन्तरत, यथार्थत सहज
 उन्मुक्ति की आनन्दावस्था का उपयोग कर सकता है। काम के
 ईश में प्रकृति के सुन्दर उपादान हैं। ये सुन्दर उपादान स्त्री और
 पुरुष के सौन्दर्य के रूप में भी अवतरित होते हैं। इनमें मानव
 का मन रमता है। ये उसे आकृष्ट करते हैं जिनसे काम भाव
 आवृत होता है। वह काम भाव जो कि विविध रूप से इन्द्रियों
 के क्षणिक सुख में ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है और
 उस सुख से वंचित करने की निरन्तर चेष्टा करता रहता है जो
 सुख सोमा और सौन्दर्य के वेह और बेही दोनों के मिस्र जाने से
 प्राप्त हो सकता है। सूर ने सोमा और सौन्दर्य का ससूत्र सहरा
 दिया और उस सौन्दर्य को प्रत्येक छन्द, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव,
 प्रत्येक श्रद्धा, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान, प्रत्येक मानवीय उपादान
 में पूर्ण सोमा और धी से व्याप्त कर दिया। प्रत्येक मनोस्मिति में,
 वह सौन्दर्य सड़ा किया। मा के मन का सौन्दर्य, पिता के मन का
 सौन्दर्य, भाई के मन का सौन्दर्य, मित्रों के मन का सौन्दर्य, सखियों
 के मन का सौन्दर्य, प्रेमिकाओं के मन का सौन्दर्य, प्रियतमाओं के
 मन का सौन्दर्य ! सौन्दर्य और आकर्षण से बिसरी हुई इन बन्ध
 बीषिकाओं में से कवि धीरे-धीरे पुरुष को पनपाता है और उस
 आकर्षण और सौन्दर्य के वैविध्यपूर्ण पुष्प में से एक स्त्री रूप
 उभरता है और समस्त स्थितियों को पार करके सूर की अनुभूति का
 केन्द्र इस स्त्री और पुरुषों से आवृत हो उठता है और जब मनुष्य
 की सौन्दर्य सिन्धु समस्त इच्छाएँ एक दूसरे से परास्त हो जाती
 हैं तब कवि यों कह उठता है—

(२३६)

निदरि भय भयं सेति राधा
मह कहति किंति कि सोभा करेंगे द्याम,
येहि हों मानु मनु सबहि साधा
उतहि हरि रूप की राखि नहि पार कहुं
दुहुनि मनु परस्पर होइ कीमती

(२१२८, २७४६)

धीर यही स्त्री धीर पुरुष दोनों के अपने अपने उत्कृष्ट तत्व परस्पर होइ से मानव के मन को मचते हुए प्रस्तुत होते हैं धीर काम-माद का जो अन्तिम स्वरूप है—रति संग्राम—उसमें जुट जाते हैं धीर यही पर शोभा, सौन्दर्य, शरीर का मूर्ति का समस्त हित समाप्त हो जाता है धीर वह आनन्दमय स्थिति प्रस्तुत हो जाती है जिसकी अनुमति मानव के हित वास्तव्य को आनन्दित कर लेती है। इस स्थिति को सूर ने सम्भवतः 'मनसा' नाम दिया है धीर कहा—

मैन मनसा बस परयो मिटि पस नाम तुरय

(२१३१, २७४६)

धीर इस मनसा की महत्ता को माने कवि ने इस रूप में प्रकट किया है—

प्रेम हित के धीर सागर, मई मनसा एक ।

(२१३२, २७४७)

इस मनसा की स्थिति में मानव की अनुमति जब कवि के काव्य के साथ पहुँच जाती है तो काम रिपु समाप्त हो जाता है—

सूर कहै ये समय भुमट बिच

क्यों न बसे रिपु कामहि ।

(२१३०, २७४८)

मानवीय अर्थात् के शिव का दर्शन यही हो जाता है और तब इसी आनन्द की उपसर्ग का पोषण तब समस्त पक्षों में आये होता है जो विरह के पद कहलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की अनुमति ने काव्य को ही वह माध्यम बना दिया है जिससे उसे उस मनसा की अनुमति हो उठे जिस मनसा में

अध्यात्म निखर उठता है। योगी और ज्ञानवादी, जो जिस प्रकार साधना की आवश्यकता है, सूर के इस मानवीय अध्यात्म की उपलब्धि के लिए सूर के काव्य के समस्त तत्व से हृदय के अभिप्रेत होने की आवश्यकता है और तब सूर के प्रत्येक पद में हमें इस मानवीय अध्यात्म के सुकर दर्शन हो सकते हैं जिससे उनका काव्य वस्तुतः काव्य बना है क्योंकि मूल रूप में मानव स्वयं एक काव्य ही है। सूर का सागर इसलिए भी सागर है कि उसका आदि से अन्त तक यह अद्वैत और एकत्व बखर रहा है जबकि उसके गर्भ में सीप, बोंबे, मकर, मछली जाने क्या-क्या हैं और उसकी सतह पर न जाने कितनी चंचल तरंगें हैं—ऊँची

— गगन में इस सागर का सौन्दर्य किसी न किसी

